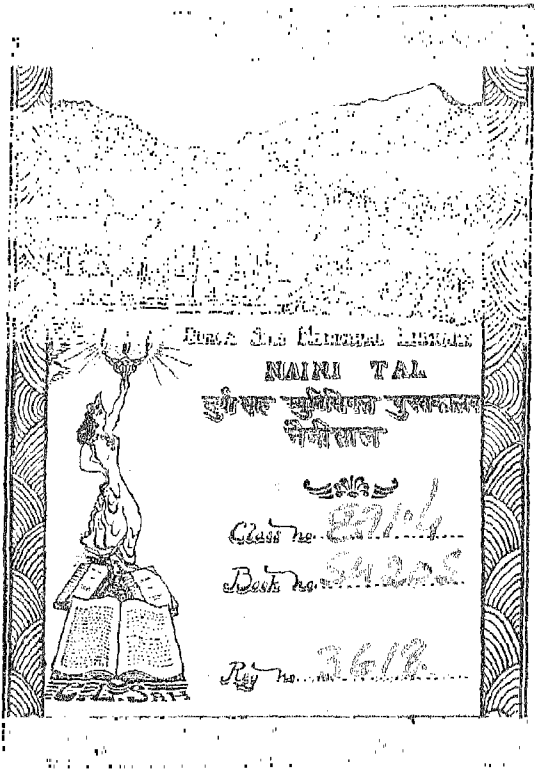
Duke of Edinburgh Memorial Library
NAINI TAL
कुमायूं कुमियांचल पुस्तकालय
नैनीताल
Class no. 954.4
Book no. Sh 22 L
Reg no. 3618

सदा सुहागिन रूठ गई

सदा सुहागिन रूठ गई

[उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत]

सुधाकर पाण्डेय

प्रकाशक

ओमप्रकाश बेरी

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,

पो० बक्स नं ७०, ज्ञानवापी,

बनारस ।

प्रथम संस्करण, १९५४

द्वितीय संस्करण—१९५६

मूल्य : तीन रुपये

मुद्रक

कृष्णचन्द्र बेरी,

विद्या मन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि०,

डी० १५/२४, मानमन्दिर,

बनारस ।

"रथ का सारथी स्वयं बन बैठा
पढ़ता हूँ गति-गीता
जब तक अन्त न हो जीवन का
कौन कहे, किसने जीता।"

गोला दीनानाथ,

बनारस।

.....

सर्व प्रथम तुम्हें ही ये निबन्ध बड़े प्रिय लगे थे; और तुमने ही एक दिन सुरक्षित रूप में सहज, सात्विक स्नेह-वश इन्हें मुझे दिया था; माँगने पर।

तुम्हारी इन सेवाओं के प्रति कृतज्ञ होना चाहा; तुमने बहाने-बाजी कर अपना नाम न देने के लिए आग्रह किया। सम्भवतः तुम्हारे नाम के कारण इस कृति का महत्व बढ़ जाता। इसलिये बिना नाम लिए तुमको ही। दुलारने के लिए नहीं; ठुकराने के लिए। क्योंकि ठोकरों की दुलार का मूल्य पाने वाला ही जानता है।

.....

अपनी-बात

जीवन में कुछ घटनाएँ ऐसी घट जाती हैं जो अवकाश के क्षणों में मन से सदैव बात करती रहती हैं। यहाँ तक कि नींद भी उनकी बातों में रस लेने लगती है और वह तन-मन की सुधि तक भूल जाती है। सामान्य व्यक्ति से लेकर तथाकथित महान व्यक्तियों तक के जीवन में ऐसी घटनाएँ घटती हैं। मेरे जीवन में भी ऐसी घटनाएँ घटीं।

ये घटनाएँ मानव को इस बात के लिए बाध्य करती हैं कि वह उनके सम्बन्ध में चिन्तन एवं मनन कर भविष्य के पथ पर सजग हो अपने चरण बढ़ाये। इतना ही नहीं, व्यक्ति के पास अपनी कामनाएँ भी होती हैं जिनके लिए वह लाख व्याधियों के बीच भी जीवित रहना चाहता है, क्योंकि जीवन के अन्तिम क्षणों तक उसके मन में वह आशा अटकी रहती है कि उसकी अमुक कामना अवश्य पूरी होगी। एक कामना पूरी होते-होते या कभी कभी बीच में ही दूसरी कामना उसके सर पर आ धमकती है और उसका आकर्षण उसके गति की दिशा मोड़ देता है।

कामनाओं के इस आकर्षण और विकर्षण के बीच मानव, जीवन की स्वाँस लेता है और पथ पर घटित होने वाली घटनाओं से प्रेरणा ग्रहण करता है। समाजशास्त्र की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति का जीवन समाज के लिए आवश्यक है। उसके जीवन की अनुभूतियाँ समाज की सम्पत्ति हैं।

ये आत्म-व्यंजक निबन्ध भी इन्हीं तथ्यों से निर्मित हुए हैं और अपने भीतर गिर गिर कर उठने वाले एक सामान्य व्यक्ति की कहानी समेटे हैं। संभव है वह अन्य लोगों को भी भाये। अपनी अनुभूतियों एवं विचारों को व्यक्त करने का आज के युग में सर्वोत्तम साधन आत्मव्यंजक निबन्ध ही हैं। हिन्दी में भी इधर लोगों ने ध्यान देना आरम्भ किया है।

प्रायः कुछ लोगों को ऐसा भ्रम है कि किसी निबन्ध में बार-बार 'मैं' शब्द का प्रयोग कर देने से निबन्ध आत्मव्यंजक हो जाता है। पर वास्तविकता यह है कि भाषा, भाव और शैली सभी दृष्टियों से लेखक के व्यक्तित्व की व्यापक अभिव्यंजना इसमें होनी चाहिए और सर्वत्र लेखक का व्यक्तित्व परिव्याप्त हो जाना चाहिए। ये निबन्ध सम्भवतः इस भ्रम के उद्घाटन में सहायक होंगे और हिन्दी में आत्मव्यंजक निबन्धों की प्रगति के लिए द्वार खोलेंगे।

जिन जीवित व्यक्तियों का परिचय इन निबन्धों में मिलेगा उनमें प्रायः सभी का नाम काल्पनिक रख लिया गया है और सर्वत्र उसी नाम का प्रयोग किया गया है। कुछ शब्दों का रूढ़िगत अर्थ में प्रयोग न कर सामान्य ध्वनित अर्थ में भी प्रयोग किया गया है। इन बातों का यह अर्थ कभी भी न लगाना चाहिए कि मैं इन्हें पूर्ण मानता हूँ क्योंकि मैं तो उन लोगों में हूँ जो यह मानते आये हैं कि पूर्णता का उपनाम ही मृत्यु है। और मुझे अभी जीना है।

हिन्दी जगत ने मेरी कृतियों को दुलारा है। यह भी उसके प्यार से वंचित न रहेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

अन्त में सर्वश्री काँजिलाल, महेन्द्रनाथ सिंह, राहगीर, विष्णुचन्द्र शर्मा आदि जाने अनजाने मित्रों को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस कृति के प्रकाशन में योग दिया है।

—सुधाकर पाण्डेय

इस संस्करण के सम्बन्ध में

इस पुस्तक का यह संस्करण साल भर पूर्व ही प्रकाशित हो जाना चाहिए था, किन्तु आदत से लाचार हूँ। इस ढिलाई के लिए अब क्षमा माँगने की भी लत लग गयी है। उस लत के रूप में नहीं, सच्चे मन से उन पाठकों से क्षमा माँगता हूँ, जिनके पास यह पुस्तक चाहते हुए भी नहीं पहुँच पायी है।

इधर आत्म-व्यंजक निबंध की जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनमें यह पुस्तक सर्वाधिक जनप्रिय हुई है। इस स्नेह के लिए हिन्दी-जगत का हृदय से चिर कृतज्ञ हूँ, उन विद्वानों का भी, जिन्होंने इसे स्नेह, आशीर्वाद प्रदान किया है। इसलिए मुझे विशेष प्रसन्नता हुई कि सभी विचारों एवं वर्गों के साहित्यकारों की आस्था ये निबंध प्राप्त कर सके।

इनके सम्बन्ध में पुनः विशेष कुछ कहना नहीं है। पर कुछ ऐसी बातें हैं, जिनका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। इन निबन्धों को कुछ लोगों ने विचार-विशेष के क्षेत्र का घोषित किया है। इस सम्बन्ध में मुझे केवल इतना ही कहना है कि सारे के सारे विचार किसी वर्गवादी के नहीं, जीवनोद्भूत अनुभूति और चिन्तन के परिणाम हैं। यह भ्रम

विशेषतः उन लोगों को हुआ है जो वर्ग के आगे के व्यक्तित्व की परिकल्पना अपने जीवन-सत्य के कारण नहीं कर पाते हैं, उन्हें मैं किसी प्रकार का दोष नहीं देता।

दूसरी बात यह कहने की है कि भले ही इनमें व्यक्ति प्रधान हो उठा हो, किन्तु इस उठान में अहं भावना नहीं, जीवन की जय बोलने वाले एक व्यक्ति का अंजलिबद्ध भाव निवेदन है। इस निवेदन की धारा को जहाँ अवरोध की काराओं ने रोका, टोंका और घेरा है वहाँ निश्चय ही भावभंगिमा कुटिल हो गयी है। वह इन निबन्धों का दोष नहीं, निबंधकार के आवमी होने का दोष है। इससे अधिक कहने-सुनने का अभी समय भी नहीं आया है।

काशी,
नवरात्रि, २०१३।

विनम्र
लेखक

अनुक्रम

		पृ० सं०
१. ईश का वह रहस्य वरदान	...	१५
२. देखूँ कब तक साथ रहोगी !	...	२३
३. दीमक लगा पन्ना	...	३१
४. सदा सुहागिन रूठ गई	...	३९
५. मेरे मरने पर...	...	४७
६. मेरी कसम	...	५३
७. बड़प्पन का बोझ !	...	५९
८. प्रयोग	...	६७
९. मेरी हत्या	...	७५
१०. जय हो इन जलने वालों की	...	८३
११. दीप जले, दीप बुझे	...	९१
१२. पत्र, जो भेज न सका	...	९९
१३. दुनियाँ के घर रंगीनी जो ठहरी	...	१०५
१४. जो याद है	...	१०९
१५. कुंकुम	...	११५
१६. क्या दूँ	...	१२५
१७. जाओ कल्पित साथी मन के	...	१३१
१८. अब लौं नसानी...	...	१३९

ईश का वह रहस्य वरदान

* [१]

आधुनिक हिन्दी कवियों में जिसके प्रति बिना सोचे-समझे भी मेरा मस्तक श्रद्धानत है, उन्हें सभी जयशंकर 'प्रसाद' के नाम से जानते हैं।

कोई उन्हें आधुनिक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार बताता है, कोई युग-प्रवर्तक-साहित्यशिल्पी, और न जाने, क्या, क्या ? अपने में इतना साहस नहीं, क्योंकि कलम से दोस्ती किये न तो अभी एक युग ही बीत पाया है और न अपने को इतना अध्ययनशील ही बना पाया हूँ कि आधुनिक कृतिकारों की सभी कृतियों का अर्थ से इति कर सकूं। एकाध बार साहस भी किया तो कुछ महान साहित्यकारों की बातें ही न समझ सका और कुछ महान साहित्यकार ऐसे लगे, जिन्होंने राष्ट्र को आर्थिक क्षति पहुँचाई है—नाहक सफेद कागज काला कर।

एक दिन की बात है कि जल्दी ही स्कूल से घर लौट आया। कब ? तिथि तो याद नहीं है, पर उस दिन की बात बज्र की लकीर बन गयी है। बाबू जी का सामना हो गया।

उन्होंने तुरन्त पूछा—आज जल्दी ही कैसे ?

इस कैसे में यह संभ्रम छिपा था कि कहीं भास्टर साहब से बहाना बनाकर स्कूल से नौ दो ग्यारह तो नहीं हो गया हूँ।

सम्भवतः उन दिनों मैं पाँचवीं या छठीं कक्षा का छात्र था। मैंने कहा—कोई 'प्रसाद' थे, मर गये और आज छुट्टी हो गई।

उनके मुख से तत्काल निकल पड़ा—अरे! वे तो बड़े अच्छे लेखक थे! अच्छे लेखक की बात मन में बैठ गयी।

नाम नहीं बताना चाहता। हिन्दी के एक प्रथम कोटि के कवि मेरे घर प्रायः उन दिनों आया करते थे। वे बाबू जी को चाचा जी कहा करते हैं। बाबू जी को कई बार उनसे कहते सुना था कि—बेकारी की बलबलाहट है, कविता। कुछ काम धाम करो।

और वही बाबू जी आज मुझसे कह रहे हैं 'बड़े अच्छे लेखक थे।' उस समय कुछ समझ न पाया और इस भय से कि कहीं बाबू जी कोई काम करने के लिये न सरेख दें, वहाँ से सरक गया।

आज की कागजी दुनियाँ में सभी महिमा कागज की ही है। इसलिए कागज ही सब का आवर्त है, पर बहु मुद्रित होना चाहिए। एक सर्टिफिकेट की प्राप्ति के लिए, जिसका मूल्य जीवन में कुछ दिनों के बाद नहीं के बराबर हो जाता है—नाना प्रकार के संताप सहने पड़ते हैं।

लोगों के नाम अखबारों में छपते देखता। दुकानों पर किताबें भरी देखता, तो सोचता मेरी भी किताबें कभी छपेंगी, मेरा भी नाम पत्रों में छपेगा; और इसी कारण पुस्तकों का तथा पत्रों का अध्येता भी बना।

'हे प्रभो आनन्ददाता' से लेकर 'यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर तो वह नारी उर के अन्दर, तक अपनी बुद्धि (छोटी या बड़ी जो कुछ भी थी) लगा गया। पर मन पर मुहर न 'प्रभो' लगा सके, न 'नारी-स्वर्ग' के पूजक ही। मेरी स्थिति उस समय उसी प्रकार की हुई जिस प्रकार तैराकी सीखने वाले बालक की—पानी में गेंद की भाँति फेंक दिये जाने के पश्चात्। आचार्य रामचन्द्र

शुक्ल से लेकर पं० शांतिप्रिय द्विवेदी तक की पुस्तकों का सहारा लिया। एकाध विद्वानों का भी पल्ला पकड़ा, पर सभी मेरी दृष्टि में उस समय क्या लगे, अगर लिख दूं, तो अब आत्मा को चोट लगेगी। तब तक एकाध सर्टिफिकेट मिल चुका था। कामी की भाँति लोभ बढ़ रहा था। सुन रखा था 'साहित्य रत्न', हिंदी की सबसे ऊँची डिग्री है। इण्टर में एम० ए० के बराबर होने की कामना जगना तो यौवन-सुलभ पौरुष का ही परिचायक है; और मैंने सारा पौरुष व्यापार-शास्त्र की स्कूली पुस्तकों से हटाकर इधर ही लगा दिया।

जिस प्रकार अंग्रेजी पद्धति में कोई सामान लेने के पहले ही वाऊचर बनवाना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार किसी परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए फार्म भी भरना पड़ता है। यह कार्य तब तक कई बार कर चुका था।

'रत्न में' फार्म भरते समय लिखना पड़ता है कि किस विशेष कवि का अध्ययन अपेक्षित है। तब तक 'आंसू' से और जीवन की 'घनीभूत पीड़ा' से कभी-कभी मन को खेलने का पाला पड़ जाता था। ये पंक्तियाँ उतनी ही सुन्दर लगती थीं, उस समय, जितना अब किसी अपनी कृति का प्रकाशन :—

'जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति-सी छायी,
दुर्दिन में आँसू बनकर—
वह आज बरसने आयी।'

और फार्म पर एकाएक मैंने लिख दिया 'प्रसाद'। एकाएक लिखने का कारण क्या था, मैं नहीं जानता। पर, आँसू का परिचय अधिक स्थायी होता है, बड़े-बड़े विद्वान लिखते आये हैं।

तब तक जीवन-यौवन के द्वार में प्रवेश कर चुका था। कुछ-कुछ समझने लगा था, प्रेम किस बला का नाम है। इसके पूर्व

भी 'ममता' की एक छाप मेरे दिल पर लग चुकी थी, उसी प्रकार जिस प्रकार लिफाफे पर डाकखाने की मुहर। उन दिनों तक पं० विनोदशंकर व्यास के पर्याप्त सम्पर्क में आ चुका था। उनकी चारपाई के सिरहाने 'प्रसाद' जी का चदरा ओढ़े चित्र टँगा रहता और प्रायः मैं उनसे 'प्रसाद' जी के सम्बन्ध में पूछा करता। वे उनके सम्बन्ध में बताते और इतने निकट से बताते कि विश्वास नहीं होता कि ऐसा लिखने वाला, ऐसा रहा होगा।

कभी 'आकाश दीप' जलता, कभी 'स्वर्ग के खण्डहर' में विचरण करता और कभी 'पथ का उद्देश्य' देखकर मौन रह जाता; और उलझ जाता समझते-समझते कि 'जिसके आगे राह नहीं' उसके आगे क्या होगा?

'अधिकार सुख की मादकता' का अनुभव भी कभी करने लगता और कभी 'पुरस्कार' में मृत्यु—भीख माँगने की कल्पना देख दहल उठता। पर जीने से मरने तक सभी अच्छा लगता। बुरा केवल तब लगता था जब मोटे शब्द-सागर से कुछ शब्दों के अर्थ ढूंढ़ने पड़ते।

प्रायः जिन वस्तुओं से आत्मीयता हो जाती है, वे अच्छी लगती हैं। पर व्यक्ति ज्यों-ज्यों उन अच्छाइयों का कारण ढूंढ़ने बैठता है, त्यों-त्यों उसके मस्तिष्क की शिराएँ उलझन का जाला बुनने लगती हैं। पर सौभाग्य था, उन दिनों तह में घुसने की बुरी लत नहीं लगी थी।

विधि का क्रम है कि व्यक्ति ज्यों-ज्यों अपने को अधिक विकसित समझने लगता है त्यों-त्यों उसकी उलझनें बढ़ती जाती हैं। मेरी उलझनें भी 'जटाजूट' बन रही थीं। किताबों का व्यामोह, डिग्री की चिन्ता, कालेज की शान और कुछ-कुछ मन का बन्धन। सभी बारी-बारी से आते और अपना मुंह बना कर मेरा दिल दुखा जाते। पर बहुत पहले ही कंठस्थ हो गया था :—

"रहिमन अँसुआ नयन ढरि, जिय दुख प्रकट करेय ।
जाहि निसारो गेह ते, कस न भेद कहि देय ।।"

जीवन के ताप की छाया के घेरे में मैं तब बन्दी बन चुका था, आँख में आँसू उसी प्रकार आकर बाहर नहीं निकल पाते थे जिस प्रकार भूल-भुलैया से बालक ।

पढ़ रखा था इस युग में 'कामायनी' से सुन्दर कविता पुस्तक प्रकाशित ही नहीं हुई । सुन्दर, तो मैं उसी को समझता हूँ जो मेरे काम आ सके । सम्भव है न्यूयार्क में स्वर्ग हो पर मेरे लिए तो काशी ही है । अतः सम्भव था 'कामायनी' पाठ से लोगों को मुक्ति मिलने का विधान हो, पर मेरे लिए उसकी सौन्दर्य-गरिमा किसी मैदान के दूब से अधिक न होती । क्योंकि राम-नाम की महिमा तक में, मेरा विश्वास उन दिनों नहीं था, बाप-नाम की महिमा में अवश्य था ।

'हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर से 'आनन्द' के पाताल तक खाक छान गया । लिख लोढ़ा, पढ़ पत्थर की कहावत सामने आने लगी । करता भी क्या, पढ़ना तो था ही ।

सोचता 'मेरी आँखों की पुतली में तू बन कर प्राण समा जा रे' का उद्भावक 'बीती विभावरी, जागरी !' का गायक, पागल तो नहीं हो गया था । पर कभी-कभी जो बात समझ में नहीं आती वह श्रद्धामय कौतूहल का कारण भी बन जाती है । मन ने पुनः कहा 'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन तक टिक रहना' और परीक्षा में अच्छे नम्बर भी तो लाने ही थे—'एम० ए०' की की समतावाली पगली साध ।

परायण तत्परता के साथ आरम्भ हुआ । दुबारा पढ़ा । कुछ-कुछ बात समझ में आयी पर कुछ ऐसी नहीं जो हृदय को लुभा सके ।

एकाएक इन पंक्तियों पर एक दिन पन्ना उलटते समय आँखें गड़ गयीं :—

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत इसको जाओ भूल।'

अपनी भूल समझ में आ गयी। अभिशापित को वरदान मिला। लोग देखकर आश्चर्य में पड़ते कि ताप की अग्नि में जलते-जलते भी यह अल्हड़ युवक मुसकान का आलिंगन करता है; और मैंने मान ली 'प्रसाद' की महत्ता, क्योंकि उन्होंने मुझे वरदान दिया था, ऐसा जो जीवन भर समाप्त होने वाला नहीं।

आज उनकी जयन्ती है। लोग उन्हें क्या-क्या बनायेंगे? इसकी कल्पना भी उन्होंने कभी नहीं की होगी। पर मैं कंजूस, दाता का नाम बताकर 'जय हो यजमान की' के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकूंगा। क्यों? यह भी नहीं जानता।

——:०:——

देखूँ, कब तक साथ रहोगी !

* * * * * * * * * * * * * * * * * * [२]

संसार में एकाकी आया, पर माँ की ममता ने अकेला न छोड़ा। ज्यों-ज्यों जीवन की डोर में वर्ष की ग्रन्थियाँ पड़ती गयीं, त्यों-त्यों मेरे आँगन में परिचितों की भीड़ बढ़ने लगी। उस भीड़ में इस बुरी तरह घिर गया हूँ, कि अब स्वयं को भी देख नहीं पाता। पर इस भीड़ से दूर, मन के भीतर भी कोलाहल में दूरागत वंशी का रव ममता के स्वर में गूंजता रहता है; जिसकी मूक-मधुर वाणी स्पष्ट सुनायी पड़ती है।

जीवन पथ पर सहयात्री तो कितने बने, पर अधिकांश जीवन की मरुभूमि में लालसा के तूफान में फँस पीछे छूट गये या फाँसी पर लटका दिए गये। ऐसी निद्रा में वे मग्न हैं, जहाँ जागरण मुखित पाता है। इतने बड़े संसार के बीच भी व्यक्ति का एक छोटा-सा संसार होता है जिसे वह अपने सर पर लादे घूमता रहता है, यथा शेषनाग अपने फन पर पृथ्वी। अपने नन्हें से संसार के बीच भी कामरेड मार्क्स से लेकर "दादा कामरेड" तक से सहायता लेने के पश्चात् भी एक रस न हो सका। विभाजन की वाणी स्वसुख के लिए मन में पाकिस्तान बनाने की अभ्यासिनी हो गई है। भले ही मेरे मन को बावेल या माउण्टबेटन की संज्ञा मिले।

न जाने क्यों; फिर भी इस छोटे से संसार में अपने कहे जाने वालों से बराबर चोट ही लगती रही; पर आज के युग में

जो स्वार्थ के काले चश्मे के भीतर अपनी आँखों की प्रतिष्ठा नहीं छिपा सकते उन्हें सम्मान जीने का अधिकार भी तो नहीं।

जीवन में ममता के अरहम का भण्डार खाली नहीं हुआ। यह ममता प्रायः माँ, जीजी और औरों से भी मिलती रही। उन्होंने मेरे संतरे के समान सूखे अधरों के भीतर रस की कमी नहीं होने दी। उनके अमृत-दान की मुसकान-गंगा में मन के ताप को शीतलता मिलती ही रही।

कैकेयी में भी भरत के प्रति प्रेम था; तो मेरी माँ जो कौशल्या से भी महान है---मेरे प्रति स्नेहातुर न रहे, विधाता की मौलिक भूल होती। उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति मैं हूँ; उसकी आँखों का तारा, उसके हृदय का लाल। तूफानों को आँचल से रोक स्नेह का दीप जला-जला कर मेरे लिए मुसकान की ज्योत्स्ना को आमंत्रण देना ही, केवल उसका काम रहा है। पर अब बड़ा हो गया हूँ न।

ममता और दुलार की वह छाया आज भी हरी और शीतल है पर वय ने मर्यादा की चादर से विलगाव की रेखा खींच दी है। माँ के बाल भी तो पक गये हैं पर उसका स्नेह आज भी नहीं थका, कभी न थकेगा।

यद्यपि मौखिक रूप से सदैव से ही नारी निन्दक रहा हूँ, इसलिए कि यदि उसकी प्रशंसा कर दी जायेगी तो मेरे प्रति स्नेह, दुलार और ममता जो उनके द्वारा अयाचित मिलती आयी है, उसमें कमी हो जायगी। तो भी सत्य है कि गुरुजनों को छोड़कर केवल यही एक ऐसा वर्ग रहा, जिसने मेरी भूलों को दुलारा है मेरी चंचलता को पुचकारा है; और अभिषेक किया है, एक अल्हड़ युवक का---मानस के राजसिंहासन पर बैठाकर। उन्हीं में मेरी जीजी भी हैं।

उनका कथन है कि भाई तो संसार का एक ऐसा प्राणी होता है जिसका पवित्र साम्राज्य जीजी की सभी वस्तुओं पर एकछत्र होता है। भले यह कथनी ही हो, कार्यरूप में न सही, इतना ही क्या कुछ कम है? उनके सब पर अधिकार मेरा, सारी मेरी बुराई उनकी और सभी उनका सुख मेरा। इस स्वार्थी संसार में भी ऐसे प्राणी बसते हैं, यह भी आश्चर्य की बात है। पर इस आश्चर्य का साक्षात्कार गहो हुआ। यह क्या कम गौरव की बात मेरे लिए है?

अधिकार की मदिरा अनेक बार पी चुका हूँ। वह हृदय को ईख की सिट्ठी से अधिक न लगी। मेरे ऐसा चालाक व्यक्ति सिट्ठी ग्रहण करे, यह कैसे संभव हो सकता है। साथ ही जिस प्रकार जीजी पर मेरा अधिकार है उसी प्रकार अनेकों का भी तो है। पति हैं, बच्चे हैं और हैं उनके सहारे जीनेवाले कितने आश्रेयक। भूल ही गया, दो भाई भी तो उनके और हैं। दुर्योधन बनूं, मैं सबका अधिकार हड़प कर। यह कैसे हो सकता है? अगर बनूं भी तो, मन ऐसा नहीं करने देगा क्योंकि दुर्योधन की नीचता का उदाहरण कालेज की कक्षा में प्रायः देता ही रहता हूँ।

मैंने समझ रखा था दुनियाँ में जितनी बुद्धि है उसका दो तिहाई मेरे पाले है। पर मेरी अग्रजा मुझसे भी बुद्धिमान, यह प्रसन्नता की बात है। किसी पर अधिकार का बोझ लादने का मतलब होता है उसके हाथ और पैर में बेड़ी डालना, जिसे दुनिया अच्छी समझती है, मन अच्छा समझता है, पर एक बार पहनने के बाद वह टूटती ही नहीं। जो तोड़ देता है वह नीच, पातकी और कंस समझा जाता है और मैं कंस के विशेषण से विभूषित होऊँ, यह कैसे हो सकता है। इसलिये अब अधिकार को नमस्कार भले कर लूं, पर बेड़ी तो पड़ ही गयी है। जहाँ बेड़ी पड़ गयी, वहाँ साथ का प्रश्न ही कहाँ उठता है।

तीसरी ऐसी हैं, जो मेरी जीवन-संगिनी समझी जाती है, संसार में ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर से। पर इस सम्बध में केवल इतना ही पर्याप्त है कि कभी-कभी मन भी जब साथ नहीं देता, विपरीत दिशा में दूसरों के संकेत पर चरण बढ़ जाते हैं, तो वह क्या साथ दे पायेंगी जिनका मुख भी मुझसे परदा करता है; जिनकी आँखें भी मुझे देखना चाह कर भी जलकर नहीं देख पातीं।

जहाँ इतनी निराशा, इतनी व्यथा एक साथ घर किये बैठी हो, वहाँ अमावस न होगा तो क्या होगा? पर आशा सुन्दरी का नर्तन अपने नूपुरों की झंकार से सदैव ही प्रभात को आमंत्रित करता रहा है। सुना भी है, और पढ़ा भी है, कि जिसका कोई सहारा नहीं होता उसे भगवान् सूझता है। पर मुझे भगवान् भी न दीख पड़ा यद्यपि पक्का आस्तिक हूँ।

स्मरण नहीं है कि किस शुभ मुहूर्त में काठ की पटिया और नरकल की कलम लेकर माँ—भारती के दरबार में—देवीदास बना। पर आज यदि स्मरण हो जाय, या कोई बता भी दे, तो उसका उपकृत तो रहूँगा ही। देवी की सेवा ने प्रसाद स्वरूप नरकल के बदले 'पारकर' दिया। वह देवी का प्रसाद था और ऐसा प्रसाद जो सदैव वरदान की प्रतिमा बनकर जीवन साथी बन गया। भूल कर गया, साथी नहीं, संगिनी बन गयी। विष्णु को लक्ष्मी, शिव को पार्वती और राम को सीता के मिलने से जितनी प्रसन्नता न हुई होगी, उससे अधिक मुझे इस जीवन में इस संगिनी से मिलकर हुई। गुरुजनों के दुलार एवं अपने को बढ़ावा देने के कारण इसकी ओर से केवल आनन्द ही मिला, यद्यपि मैंने केवल इसे घिसना सीखा है।

दो चार ऐसे लोगों में जिनका ध्येय मेरी सुहागिन की गुण ग्राहकता है, उनमें फक्कड़ों की नगरी काशी में एक रमापति भी

है; दिल के शाहंशाह मेरे पभिन्न पर लंगड़ी भिन्न नहीं है वे मेरे लिए, आज के मित्रों की भाँति। उसकी घिसावट से उन्हें भी आनन्द मिलता है। रात आधी गुजर चुकी है, नींद मन को बैठा रही है। 'संसार' सम्पादक रमा पति क. अनुरोध है कल चाहिए। अगर सो जाता हूं तो देवी का कोप भाजन भस्मासुर की तरह हो जाऊँगा और भी तो रमापति भी नाराज हो जायेंगे। इसलिए अपने साथ इसे भी जगा रहा हूँ, मन्त्र की तरह।

पर सोचता हूँ जीवन की मन्त्र जगाने वाली मेरी यह मधुबाला कितने दिनों साथ रहेगी। रात की साय-साँय में जब सब सो गये हैं एक मन का हारा प्रश्न पूछता है, 'देखूं, कब तक साथ रहोगी ?' और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये मन्त्र जगा रहा हूं, उस दिन की कल्पना भूलकर भी, जब ये हाथ काँपने लगेंगे।

—— o ——

डीमक लगा पत्ता

* [३]

सन्त तुलसीदास के जीवन का यह सत्य हो सकता है, कि नारी के हृदय में सदैव आठ अवगुण वास करते हैं—पर मैं इसका कायल नहीं। कम से कम माँ और बहन तो आस्था की दृष्टि से देखी ही जाती हैं। और आस्था की आँखों में दोष देखने की क्षमता ही कहाँ? पर पत्नी के सम्बन्ध में उसी सिद्धान्त का प्रयोग करना दूध में नमक मिलाना होगा।

प्रायः दूसरी पत्नी के सम्बन्ध में लोगों को शिकायत होती है। वह गर्हिता नारी मानी जाती है। पर दुर्भाग्य या सौभाग्य जो भी समझूं, मेरी पत्नी इसका अपवाद है। दुर्भाग्य इस माने में कि उसके कर्कश शब्द नहीं सुनाई पड़ते, वह मुझपर रोब गालिब नहीं करती, उसके खर्च की साड़ी द्रौपदी की चीर नहीं बनती। इसीलिए चिर प्रचारित लोक-आस्था प्राप्त जीवन के इस अनुभव की अनुभूति से विलग ही रहना पड़ता है।

सौभाग्य यह इस माने में है कि तथाकथित दुर्गति से बच जाता हूँ, प्रायः जो पढ़ी लिखी औरतों से दूसरी शादी करने वाले पाते हैं।

कभी-कभी जब सोचता हूँ कि मेरी पत्नी इतनी साध्वी है तो आश्चर्य हो जाता है। तीन वर्ष शादी किये हो गये, पर मेरी पत्नी एक दिन केवल बाहर निकली—वह भी माँ के साथ विश्वनाथजी

का दर्शन करने। मेरा जीवन भी तो बड़ा विचित्र है। प्रातःकाल ७ बजे, जब घर से निकल जाता हूँ तो व्यापार से लेकर सभा-संस्था और मित्रों से मिल मिलाकर रात बारह बजे घर लौटता हूँ। थकावट की लोरी अलस आँखों में नींद बन कर छा जाती है। रात में लौटकर जब तक मैं सो नहीं जाता, वह जागती ही रहती है।

दिन भर घर का काम सम्हालती है। सोने का पर्याप्त अवकाश तक नहीं गृहस्थी की झंझट में उसे मिलता, क्योंकि बड़ा भारी परिवार है मेरा, और सबसे छोटी बहू है वह घर की। वह केवल इस लालसा से जागती है कि मुझे खाना परोस सके। वह पढ़ी-लिखी है, देखने में भी रजतपट पर उतनी सुन्दर महिला दिखाई नहीं पड़ती। उसके कुछ अरमान तो होंगे ही। पर सभी मेरे लिए वह उसी प्रकार पी जाती जिस प्रकार शिव ने देवताओं के लिए विष पिया था। मुझे उस पर दया आती है, कभी-कभी। पर वह दया व्यंग से कम नहीं जो क्रियात्मक न होकर वाणी की हो। और वहाँ वाणी कहां? वाणी की सहानुभूति से कम से कम उसे सान्त्वना तो मिलती। यहाँ दया भी उस कंजूस व्यक्ति की भाँति, जो अपनी सम्पत्ति शंकावश अनजानी जगह गाड़े सोन रहता।

जब कभी इस दया का स्रोत फूटता तो मैं देखता भर रह जाता क्योंकि लाचारी है, बात से लाचार हूँ। कई बार अपने को मोड़ने का प्रयत्न किया पर मेरी स्थिति वही प्रमाणित हुई जो किसी शराबी के रोज-रोज शराब छोड़ने के प्रण की। इसलिए अपने को मन में दोषी मानते हुए उस अभियुक्त की भाँति सफा घोषित करता हूँ, जिसका मामला न्यायालय में हो।

अस्त-व्यस्त न रहना चाह कर भी उसे आदत के रूप में स्वीकार कर चुका हूँ। बाहर से आकर कपड़े फेंकना, किताबें

पढ़ते-पढ़ते वहीं छोड़ देना, पत्र इधर-उधर फेंकना और फिर उनका ध्यान न रखना साधारण सी बात है, मेरे लिए। पर मेरी पत्नी उन सभी को सुस्थिर कर रख देती है!

कल दिन में घर से बाहर नहीं निकला। इसका कारण भी लाचारी ही है। निकलना तो चाहता ही था पर पैर में फोड़ा हो गया है। उस पर जोर पड़ने से बढ़ जाने की सम्भावना की बात चिकित्सक ने स्पष्ट कर दी थी। घर पर बैठे-बैठे जी बहलाने के मेरी दृष्टि में केवल दो साधन हैं, बच्चे और पुस्तकें।

भगवान् ने बच्चे तो दिये नहीं। यह अच्छा ही किया क्योंकि जब तक आदमी बाप नहीं बन जाता तब तक बच्चा ही समझा जाता है और लड़के का घर पर सात खून माफ। इतना बड़ा अधिकार केवल क्षणिक सुख के लिए छूट जाता। इसलिए.....। आलमारी से मैंने कुछ किताबें निकालीं पढ़ने के लिए।

उन्हें ले जाकर चारपायी पर रख दिया और स्वयं लेट रहा। सुन्दर-सुन्दर उपन्यास थे वे।

ऊपर से देखने में उनके आवरण आकर्षक, लेखक का नाम बड़ा, पर उनकी हालत उसी प्रकार की हो चुकी थी, जिस प्रकार की स्थिति बहुत बड़े संस्थान की दिवाले के पूर्व हो जाती है। यह बात मुझे तब मालूम हुई, जब उन्हें पढ़ने के लिये खोला। अस्थि-पञ्जर ठीक रहने पर भी प्रायः सबको टी० बी० के तीसरे स्टेज की भाँति भीतर से दीमक चाट गये थे। सोचने लगा क्यों और कैसे? सीधा सा उत्तर मिला—लापरवाही से।

किसी से कुछ कह न सका क्योंकि दोष मेरा था। पश्चात्ताप ने क्रोध का रूप ले लिया और जो सामने आये उनपर झिड़की आरम्भ हुई।

पहले तो आदमी काम पर ध्यान नहीं देता। जब काम बिगड़ जाता है तो उसे बनाने चलता है। मैंने भी अपने छोटे भाई को

बुलाया। पहले तो उसकी पढ़ाई पर क्रोध उतारा और उसे सवा सोलह आने नालायक सिद्ध कर दिया। जब आदमी छोटा रहता है तो उस पर कुछ भी आरोप लगाया जा सकता है क्योंकि उसके पास मौन रहने के अतिरिक्त कोई चारा भी तो नहीं रहता।

मैंने उसे आदेश दिया—आलमारी में जितनी पुस्तकें दीमक चाटने से बच रही हैं, सबको धूप में डाल दो और जिन पर दीमक लग गये हैं उन्हें या तो फेंक दो या कोई ले जाय तो दे दो। ऐसा करने के पहले एक बार मुझे उन्हें दिखा देना।

उसने अपना दायित्व अपनी छोटी भाभी के सिर मढ़ दिया, मेरा नाम लेकर। आज्ञानुसार कार्य सम्पन्न हुआ।

गोधूली आयी। किसी ने आकर कमरे को प्रकाशित कर दिया। मैंने देखा—घूंघट काढ़े एक तरुणी, उसका चेहरा वस्त्र के पतले होने से छाया चित्र की भाँति झलक रहा था। बड़ी-बड़ी आँखें, हरिणी की भाँति, पर चौकड़ी भरने की मुद्रा में नहीं किसी आश्रमबालिनी की भाँति स्निग्ध और सरल, पतले अधर सौन्दर्य की स्याही, टेढ़ी भवें तूलिका और गोल चेहरा पीत-पत्र की भाँति कलाकार की कृतिशाला का प्रतीक बन कर मुसकरा रहे थे। साथ ही माँग का सिन्दूर किसी भाव-चित्र की अमर रेखा को सँवार रहा था।

उसने कहा—अच्छी किताबें छाँट कर रख ली हैं। समय हो तो चलिये रद्दी किताबें देख लीजिए उनकी व्यवस्था कर दूं। और फोड़ा कैसा है?

मैं अपने स्वभाव के अनुसार मुसकरा उठा और बिना कुछ बोले, उठ खड़ा हुआ। संकेत की भाषा समझने में उसे विलम्ब न लगा। वह आगे चली गयी। मैं भी ऊपर पहुँचा।

अनेक सुन्दर पुस्तकें, जिनमें से कुछ पैसा लगा कर और कुछ माँगनी माँगी हुई, जो वापिस नहीं गयी, टी० बी० के रोगी की भाँति

अन्तिम स्वाँस ले रहीं थीं। उनका मुझे उतना दुःख नहीं हुआ जितना दुःख इस बात का हुआ कि एक कागज का पत्रा दीमक लगा वहाँ मर्दित हो मूर्छित पड़ा था।

श्रीमती जी ने पूछा—इन्हें फेकवा दूं।

मैंने कहा—हाँ, घर में रखने से लाभ, कीड़े और बढ़ेंगे।

वह उठीं, टोकरी के साथ वापस आयीं। जल्दी जल्दी सब कूड़ा उसमें भर डाला। उस टुकड़े को वह उठाने लगीं।

मैंने कहा—जरा देखूं, तो यह क्या है?

उन्होंने उसे उठाकर दे दिया उसमें उतने ही कीटाणु लग चुके थे जितना माइक्रोस्कोप से देखने पर किसी सड़े फल पर दीख पड़ते हैं।

मैं उसे क्षण भर देखता रहा। अतीत के पृष्ठ स्मृति के झोकों से अपने आप सामने नाचने लगे।

पहली पत्नी की स्मृति की निशानी इस पत्र मात्र में छिपी थी। वह इतनी रूपवती, गुणवती और शालीन न थी फिर भी मैं उसे देखना चाहता था, बात करना चाहता था, बहाना बनाकर।

पारिवारिक परम्परा के कारण उसका चित्र तक साथ न खींचा जा सका; पर क्षय से क्षत-विक्षत मायके से उसका जीवन में जो एकमात्र पत्र आया था, वह यही है। उसे मैंने पुस्तक में रख छोड़ा था। इस पत्र को इतनी बार पढ़ चुका हूँ कि शब्दशः याद हो गया है:—

प्राणेश्वर

टी० बी० के मरीज के पास आना ठीक नहीं। डाक्टरों का कहना मेरे लिए तो आपको मानना ही चाहिये। पर एक बार दर्शन तो दे जाइये, मेरे लिये। आँखें अब भी देख सकती हैं, दूर से ही सही।

प्रतीक्षा में

यह पत्र उसने तब लिखा, जब माँ ने उसके भाई का मेरे ससुराल जाने का सारा आग्रह अस्वीकार कर दिया।

मैं उसकी स्मृति में एक शराबी की भाँति तल्लीन हो गया। एकाएक किसी ने कहा—'दीजिए, फेंक दूं।'

स्वप्न भंग हुआ। पुनः सोचने लगा, अगर यह स्नेह—सत्य प्रकट हो गया तो इसे भी सम्भवतः दुःख हो, कि मरी से इतना प्यार और जीवित से इतनी घृणा। जीवन की जय बोलने वाले द्वारा मृत्यु की यह उपासना मन के अंक में घुला दी गयी। मैंने उसकी ओर हाथ बढ़ाकर उसे दे दिया। पुनः उसने पूछा—'फेंक दूं, न!'

मैंने कहा—एक गिलास पानी लेती आओ!

वह दीमक लगा पत्र वहीं छोड़कर पानी लाने चली गयी।

ममता न मानी। मैं आसन से उठा, चोर की भाँति झपट, मैंने कागज उठा लिया। धीरे से छिपाकर उसे बिस्तर के नीचे रख दिया।

वह आयी। पानी पिया। प्यास न बुझी और लगी भी तो नहीं थी। पर जलन बनी रही।

उसने कहा—वह कागज कहाँ गया? कहीं घर पर रहा तो सारा घर दीमक चाट जायेगा।

मैंने कहा—यहीं तो था। हवा के झोंकों में कहीं उड़ गया होगा। हाँ, जरा जाकर मेरे लिए पकौड़ी तो बना दो!

वह चली गयी। मैं दीमक लगा वह पत्र लेकर नीचे चला आया और मैंने उसे छिपाकर मिट्टी के स्नेह में भिगोकर एक डब्बे में उसी प्रकार रख दिया है जिस प्रकार किसी सम्राट् का शव किसी की प्रतीक्षा में रख दिया जाता है।

देखूं, कब तक वह वहाँ रह पाता है। कागज है न, गल जायेगा। पर यह बात न भूलेगी कि 'सारा घर दीमक चाट जायेगा।' क्यों और कैसे?—पता नहीं, यह भी लाचारी ही है।

——:०:——

सदा सुहागिन रूठ गई

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * [४]

एक दिन की बात है कि, मैंने अपनी जीवन-संगिनी से एक प्रश्न पूछा था, 'देखूं, कब तक साथ रहोगी ?' यह प्रश्न किसी दुर्भावना-वश नहीं, अपितु इस भ्रम से पूछा गया था कि कहीं निराशा की विभूति रमा कर भी मुसकराने वाले एक अल्हड़ युवक को यौवन के प्रभात में ही बुद्ध सी नहीं बनना पड़ेगा ? सुना है अध्ययन और मनन जीवन पथ पर व्यक्ति के गतिवान चरण बनते हैं। चलने की लालसा भी कहीं ठोकरों की भट्ठी में झुलस कर राख न हो जाय, इसी डर से यह प्रश्न वाचक चिह्न राह में खड़ा हो गया था, उस दिन।

तभी से मेरे छोटे से मन के आँगन में दिन-रात साकार रूप में यह प्रश्न चिह्न 'अग्नि-रेख-सा झलक उठता है। अपनी 'जीवन-संगिनी' पर भी जिसे भरोसा नहीं, उस पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ? अपने साम्राज्य में ही मुक्त जैसे तानाशाह को भी यह नन्हा सा प्रश्न बन्दी बनाये पड़ा है। भाव की आँधियाँ आती हैं, अनुभूतियों की टहनियाँ हिलने लगती हैं और अपनी बारी में पड़े फलों को ज्योंही बटोरने के लिए ये हाथ बढ़ते हैं, त्योंही कोई बोल उठता है,—'ठहरो, उत्तर देकर तब हाथ बढ़ाओ।'

कई बार अपमानित और लांछित हो चुका हूँ, पर अपनों द्वारा किये गये अपमानों में भी एक रस होता है, जो नन्दवास के भ्रमर-गीत से कम रसमय नहीं।

जीवन पथ पर एकाध ऐसे भी मिल गये हैं जो गुल्ले खाँड, सूर्य की भाँति जीवन पर्यन्त मुसकराते देखना चाहते हैं। पर कभी-कभी वे झुलसा भी देते हैं इसलिए कि कहीं किस्मत की लकीरें इधर-उधर हुई तो झुलसने में भी मेरी मुसकराहट को आँच न लगे। आज उसी भट्ठी में झुलस रहा हूँ। प्रियतमा पर अविश्वास के लिए विधान भी है न, प्रेम के साम्राज्य में अविश्वासी फाँसी पर चढ़ा दिये जाते हैं। खेद है, वह ऐसा न कर सकेगी। वह केवल पश्चात्ताप का दण्ड देना चाहती है और इसीलिए मौन हो गयी है, पर है साथ।

आज उस मानिनी को मनाना है। पर कैसे? अभी तक तो रूठता आया हूँ, लोगों से मनावन कराने का अभ्यासी रहा हूँ। सोचता हूँ, मनाऊँ भी तो कैसे? अपमान जो होगा! मेरा अपमान मेरे जीवन-संगिनी का भी तो अपमान होगा। वह यह स्वयं क्यों नहीं आज समझ जाती जो सदा से मनकी अक्षर भाव-नाओं से मेरी प्रतिमा गढ़ने की अभ्यासिनी है।

जानता और मानता भी हूँ कि उसकी उपेक्षा ने एक ऐसा तूफान उठा दिया है मेरे संसार में, जिससे मैं, मेरा सब कुछ दहल उठा है और मैं इस संघर्ष में खड़ा भी नहीं रह सकता। फिर यह हठ क्यों? झुकना चाह कर भी नहीं झुक पाता हूँ, यह मेरी कमजोरी है। पर अपनी कमजोरी कहीं नदी का दो किनारा न बन जाय, जिसे लाँघना असम्भव हो जाय, इसी भय से सही, कहूँगा। जरूर कहूँगा। भय ने ही तो शंका की सृष्टि संसार में की है। सम्भवतः इसीलिए तो किसी ने लिखा भी है:—

नदी किनारे धुंआ उठतु है, मैं जानूं कछु होय।
जाके कारण मैं जरूँ, सोई न जरता होय।

यदि भय के वशीभूत हो कोई इतनी बड़ी शंका कर सकता है, तो मैं केवल इतना ही कहता हूँ, तो क्या बुरा है? भय के परदे

में प्यार दुलार पाता है। पर अपनों का अपनों पर व्यंग वह कनखी घूंघट की चितवन है, जिसके भीतर ठाकुर कवि की कटारी छिपी रहती है और काजल लगाते समय भी भय बना रहता है कि कहीं अँगुलियाँ कट न जायँ। अपनों से दुराव आँख की किरकिरी भी तो बन जाता है। यही कारण है जो स्पष्ट बता देना आज आवश्यक हो गया है, क्यों ?

जब चलता हूँ तो वह साथ चलती है, जब सोता हूँ तो बगल में सोती है और जब चाहता हूँ, अपना कलेजा काढ़ कर सम्मुख रख देती है। जब कहता हूँ, मन के मना करने पर भी वह अपने जीवन के बन्धन काल की परिधि की बिना चिंता किये मेरे हृदय के ताल पर थिरक-थिरक कर नाचती है। उसके प्रतिदान में उसे और कुछ नहीं चाहिये, केवल कुछ रस की बूंदें और वह भी मेरे लिए, मेरी परती को उर्वरा बनाने के लिए, जिसे वह सावन के घन की तरह बरस पड़ती है। ऐसी जीवन-संगिनी पर अविश्वास करना उसका अपमान नहीं है ? ऐसा आज मेरा हृदय मानने के लिए तैयार नहीं।

यदि साहित्यकार सत्य का साधक है, भविष्य का द्रष्टा और आगम का विधायक है, तो यह कैसे हो सकता है कि मैंने गलती की ? यदि गलती की होती तो निश्चित रूप से मेरी सहचरी जो आज मुझसे रूठ गयी है, फिर भी जो साथ है, छाया की भाँति मुझे रोके होती। वह सत्य चाहे जिस कारण भी निकला हो, सत्य था;—इसमें सन्देह के लिए भी कोई स्थान नहीं। ऐसी परिस्थिति में मेरे लिए कौन-सा मार्ग राजमार्ग प्रमाणित होगा,—मस्तिष्क के उलझन की उलझी लड़ी हो गया है।

जो उलझे तारों से सुलझे संगीत की सृष्टि नहीं कर सकता उसे जीवन वीणा छूने का अधिकर भी तो नहीं और यहाँ बिना वीणा छुए चैन भी कहाँ ?

जीवन-रहस्य का दूसरा नाम कस्तूरी भी है, जो मृग-मद नहीं, मानव-मद है। जिस दिन यह रहस्य प्रकट हो जाता है उस दिन व्यक्ति मर जाता है उस क्षेत्र में, भले ही उसके दोनों पैर चलते रहें, आँखें देखती रहें। रहस्य या तो कैलाश की ऊँचाई आँकते हैं या पाताल के पतित कोने में छिपे रहते हैं। एक मुक्ति का अनन्त द्वार खोलता है जहाँ तक किसी की पहुँच नहीं और दूसरा बन्धन के उन बेड़ियों की जाल में जकड़ देता है जितना बन्धन किसी को स्वीकार नहीं। दोनों किसी को स्वीकार नहीं, पर एक अपने आप प्रत्येक के गले में पड़ जाता है। उसे चाहे जयमाल की संज्ञा दी जाय, या फाँसी की।

जयमाल भी एक प्रकार की फाँसी है, जिसका बन्धन उतना ही प्रिय लगता है जितना अन्धे को आँख, बहरे को कान, गूंगे को वाणी और शङ्कर को मुण्डमाल। ऐसी फाँसी पर चढ़ने के लिए सभी जाने-अनजाने तैयार हो जाते हैं, क्योंकि उसमें पार्वती का लास्य नृत्य, लक्ष्मी की सम्पत्ति और सावित्री की विजय-साधना छिपी रहती है।

ऐसी ही फाँसी का घेरा बने लगाया अपने ऊपर, अपनी जीवन-संगिनी पर भी। इसका मुझे खेद नहीं, प्रसन्नता ही है, क्योंकि मरने वाला हूँ, तो उसमें हिचक क्यों?

वह रहस्य-भावना मानव की स्वभावगत आशंका का तूफानी झोंका बनकर मानस के चेतन देव को हिला गयी। यह मेरी कमजोरी थी, अपने पर विश्वास का अभाव!

सृष्टि का दूसरा नाम अमावस्थली रखा जाय तो कोई बुरी बात न होगी, पर यहाँ के रहनेवाले पूर्णिमा के उपासक जो ठहरे! भले ही जीवन में दूज के चाँद का भी दर्शन न हो। स्वप्न का महल होता है पूर्णिमा का चाँद और कभी-कभी राहु का ग्रास भी, यह देख जान कर भी, सब अनजान।

पहला मानव जब से आया और मुझ तक अभी जिस वस्तु को जग पूर्ण न बना सका उस अभाव के देव पर यदि शंका-कुसुम मैं चढ़ाता हूँ तो कौन-सा अपराध है ? पर उसे अपराध मानती है मेरी जीवन-संगिनी, क्योंकि मैंने अपनी कमजोरी प्रकट की है। वह मुझसे अलग कहाँ ? मेरी कमजोरी को वह अपनी कमजोरी भी जो मानती है, पर उससे क्षमा कैसे माँगूं ?

वह समझेगी कि मैं उसे बना रहा हूँ, और भी क्रोधित हो जायेगी, ! पर विश्वास है उस पर, उस रसवन्ती 'पारकर' की आन पर जो अपराधी से भी प्रेम करती है और साथ ही विधि का विधान तोड़कर माँग में सिन्दूर भर कर सदा सुहागिन की तरह मरने के लिए मेरे साथ तैयार रहती है। उससे मरने की बात भी तो कहना अपराध है न ?

——:o:——

मेरे मरने पर...

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * [५]

जीवन का चिरन्तन सत्य नित्य प्रति लोगों के सम्मुख अपनी छाया दिखा जाता है, पर बेसुध मानव आशा की फुलवारी में काँटों से आँख-मिचौनी करने का अभ्यासी बन गया है। वह देख कर भी अन्धा बन जाता है, सुनकर भी बहरा बन जाता है और सत्य जानकर भी अनजान बना रहता है क्योंकि उस सत्य की किरणें सूर्य से भी अधिक प्रखर हैं, जिसे अधिक देर तक निहारने से आँखें फूट जाने की सम्भावना बनी रहती है। यदि मानव उसे भूल न जाय तो सम्भवतः उसके पङ्ख तारों के भी ऊपर न उड़ पायें और उसका जीवन बोझ इतना भारी हो जाय कि वह राह में सदा के लिए ही बैठ जाय। प्रसन्नता है, वह इतने बड़े सत्य को भी भुला देता है, नहीं तो उसमें से अधिकतर लोग अपने को पशु-जगत का ही एक अङ्ग समझ बैठते और सम्भव था, बहुत से लोग पत्थर से भी अधिक जड़ हो जाते।

इच्छा तो यह है कि सुदूर निभृत कोने में कहीं चुपचाप बैठ रहूँ, जहाँ लोगों की छाया तक न पहुँच सके, पर लाचारी है पेट का 'स्वीच' और मन का 'रेस' सदैव 'आह्वान-घण्टिका' पर हाथ पटकने का अभ्यासी बन गया है। अनुभव के पद-चिह्न और असन्तोष मेरे अन्तर के अखाड़े में उसी प्रकार हाथापाई करते हैं जिस प्रकार योजनाओं में प्रगति के स्वप्न और मुद्रा का अभाव।

इस सङ्घर्ष में इतना उलझा रहता हूँ कि जीवन की सुलझन अमावस का चाँद बन जाती है और जीवन का सत्य देख नहीं पाता।

कितनी ही बार इन कानों ने 'राम नाम सत्य है' की वाणी सुनी है, पर एक बार भी यह सत्य मनको कुरेद न सका। इस सत्य को भूल जाने में भी एक आनन्द है, जिसका रस गड़ेरी की भाँति होता है।

आज अभी-अभी एक पत्र आया है, मेरे एक मित्र का। उसकी अन्तिम पंक्ति है—'तुम्हारे घर का राजा सदैव के लिए रूठ कर वहाँ चला गया जहाँ से अब न लौट सकेगा।'

यह राजा मेरे एक मित्र के घर की मुसकान था; जब कभी भी मैं गर्मी में दार्जिलिंग जाता; प्रायः जब उसके पिता आफिस चले जाते, वह मेरे सम्मान में मुस्कान के फूल चढ़ाता, भावुकता और सारल्य के रोली-अक्षत से मेरा अभिवादन करता और ऐसी-ऐसी बातें करता जैसी बातें सूरदास कुछ ही पंक्तियों में युग पुरुष बाल कृष्ण द्वारा कहला पाये हैं।

मैंने जीवन में यह कल्पना भी नहीं की थी कि सुमन से भी सुकुमार यह राजकुमार अनजाने ही काल के एक झटके में दम तोड़ बैठेगा। उसने मेरे मन पर एक छाप उसी प्रकार की लगा दी है जैसी कपड़ों पर पहिचान के लिए लोग लगा दिया करते हैं, किन्तु उसकी कालिमा और इसकी सफेदी में उतना ही अन्तर है, जितना किसी भयंकर गह्वर में अमावस की अर्द्ध-रात्रि में और भूमध्य रेखा पर होने वाले मध्याह्न में।

सिवाय दो बूंद आँसुओं के, जो पानी की तरह बह जाता है, मानव के पास है ही क्या, जो विषाद से आक्रांत होने पर अनजाने बह जाते हैं, और पुरुष पौरुष का बाना धरे हाथों में अर्चना की गङ्गा-जली लिए खड़ा ही रह जाता है।

मेरे मरने पर

मन मारे बैठा हूँ, आज कोई घर में भी नहीं, जो मेरे कष्ट का अनुभव कर सहानुभूति के दो शब्द सुना सके। जीवन का यह सत्य आज हर एक चित्र में उसी प्रकार दिखायी पड़ रहा है जिस प्रकार चाँदनी रात में प्रत्येक लहर में चाँद।

जीवन के इस सत्य से मैंने भी आज तक उसी प्रकार मुख मोड़ा है जिस प्रकार दुनिया के सब लोगों ने। कभी-कभी जैसे लोगों को बात लग जाती है और कोई 'कालिदास' और कोई 'तुलसीदास' बन जाता है, उसी प्रकार इस सत्य की बात लग गयी है, पर कुछ बन सकूंगा? क्योंकि आज के युग में बनना और बनाना साधारण-सी बात है। सम्भव है, उस युग में न रही हो, इसलिए लोग बनने में ही आनन्द का अनुभव करते रहे हों।

सोचता हूँ, तो हाँ, आज अगर मैं मर जाऊँ यहाँ, अकेले, तब लोगों को क्या होगा। माँ रोकर शान्त हो जायेंगी क्योंकि उन्हें अपने जीवन में मेरे समान पाँच-छः व्यक्तियों को भी तो हँसते देखना है। बाबूजी को एक हलकी चोट लगेगी, फिर उनके अहंवाद के भीतर सम्भवतः मेरी याद भर शेष रह जाय और...। पर कुछ नश्वर आदमी हैं, जो मरना ही नहीं चाहते। वे अमर होना चाहते हैं। अपने तो मरने के बाद भी अमर हो किसी से गाली और किसी से प्रशंसा नहीं सुनना चाहते, क्योंकि मेरी आँखों के सामने भी तो रोज यही होता है। अपने राम तो अनहोनी के ग्राहक।

कबीर सतपुरुष से एकाकार होना चाहते थे। पर मृत्यु, जो सबसे बड़ी सत्य है, आई तो उससे एकाकार होने में उन्हें हिचक क्यों हुई और अजन्मा अमर से क्यों नाता जोड़ने चले? यदि वे जीवित रहते तो जरूर पूछता और पूछता राम को अमर करने वाले तुलसी से कि 'जनम-जनम रति राम पद' ही क्यों? क्यों नहीं और कुछ? उसका उत्तर लिख गये हैं कि वहाँ क्लेश और ताप पहुँच ही नहीं सकता। तो पूछता क्लेश और ताप से अनास्था क्यों? ये रामपद तक पहुँचाने के सर्वोत्तम साधन हैं, न।

मस्त मौला उमर खैयाम से भी पूछता कि यदि हाला तुम्हारी समाधि पर चढ़ाई जाती तो कितने मठाधीश तुम्हारी कब्र भी मरने के बाद श्वानों की भाँति चाट जाते और तुम्हारी मदमस्त प्रेमिका को वे कल्पना में फटकने भी नहीं देते। सम्भव था हाला के स्थान पर तुम्हारे आँसू कभी रात में पत्थर और मिट्टी का दिल चीर कर निकल आते। तब कहाँ होती तुम्हारी जीवन-मधुशाला ?

और आज भी तो जीवन का एक मुसाफिर मुस्कराते-मुस्कराते चला गया है, बिना कुछ कहे, सुने, समझे कि उसकी यात्रा का ध्येय और महत्व क्या था ?

जीवन का यह सत्य आज मुझसे भी आँखमिचौनी करके पूछ रहा है 'तुम क्या चाहते हो ?' सोचता हूँ, क्या उत्तर दूं। अनुभति के स्वर वह सुन पायेगा या नहीं ? पर यदि सुन पाता, तो सम्भवतः उसे यही सुनाई पड़ता कि अनजाने, मुसकराते-मुसकराते काश मैं भी काल के अग्निकुण्ड में जीवन की जय बोलता-बोलता स्वाहा हो जाता। पर लोगों के दिल पर वैसी रेखाएँ न खींच पाये जैसी वह राजकुमार खींच गया है। बल्कि लोग मुसकरा पड़ें और मेरी याद उनकी मुसकान के आह्वान का एक साधन बन जाय। जीवन का सत्य जितना धुंधला होता है उतनी ही जीवित मानव की कामना भी। और फिर मरे मानव की क्या...?

सम्भवतः मेरे साथ भी कोई क्यों का प्रश्नचिह्न लगा सकता है। इसलिए कि जो सौदा जीवन में सबसे महँगा पड़ा, उसके अतिरिक्त राह के स्नेहियों को उपहार देने की और किस वस्तु के बारे में मैं सोच सकता हूँ। पर सन्देह है, मन की कामना पूरी न हो सकेगी, क्योंकि इस देश में अतिथि से कुछ लेने की प्रथा नहीं ?

मेरी क़सम

* * * * * * * * * * * * * * * * * * [६]

जिस घर में बच्चे नहीं होते, वह घर सर्व-साधन सम्पन्न होते हुए भी श्मशान होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि एक पर जलती हुई चिता अपने भीतर जीवन की वीभत्सता बिखेरती रहती है और दूसरे पर अँगीठी की आग की भाँति भीतर ही भीतर मन जलता रहकर दुर्गन्धि फैलाता है, ऐसा मेरा विश्वास है।

इतना प्रगतिशील तो न बन सका कि पाँव धरा पर न पड़े इसलिए आस्था से जन्म-जन्मान्तर वाद की थ्योरी में विश्वास करने लगा। जीवन में कुछ बातें हैं, जिन्हें व्यक्ति मान लेता है और कह बैठता है। पर उनकी नींव में क्या है, उसका ज्ञान उसे नहीं रहता। प्रथा क के संकेत चिह्न से केवल वह क समझता है। क्यों, इसपर विचार करने वाले बहुत थोड़े से ही लोग होते हैं। उनमें, दुर्भाग्य, मैं नहीं। इसलिये आस्था का मूल्य लगाने वाला ग्राहक भी नहीं। पर सौभाग्य है, पूर्व जन्म का, कि मेरे घर में एक खिलौना है...मिट्टी, काठ या प्लैस्टिक का नहीं, प्रभा पूर्ण जीवन का जीता जागता रूप पूर्ण 'प्रभाकर!'

मानव की जिन्दगी स्वयं एक खिलौना है, जिससे खेलना साधारण लोगों की बात नहीं। वह क्रिकेट का वह खेल है जहाँ सदा भय बना रहता है कि परिस्थितियों की गेंद आशा के बल्ले से न टकराकर कहीं आँख, कान, एवं नाक को न अपना निशाना

बना ले या जमकर 'चौका' लगने पर भी कोई उसे बीच ही में रोक कर सुहागिन आशा की सम्पत्ति पर चौका न लगा दें। इसी भय की बिडम्बना के साथ से कोमल-किशोर बच्चों को जाग्रत जीवन का खेल नहीं खेलने दिया जाता जो मनहूसियत की सड़न को मुसकान की अँगेठी में जलाकर भस्म कर देते हैं।

इसलिए इन बच्चों को ऐसी चीजें खेलने के लिए दी जाती हैं, जिनमें जीवन से घृणा की छाया न हो। क्योंकि स्थिति के ये विधाता जड़ चीजों में भी अपनी भावुकता से भोले चेतन संसार की की सृष्टि करते हैं जिसका महल प्रेम की नींव पर खड़ा होता है। शिल्पी को अपनी कला की पूर्णता का ज्ञान नहीं रहता। उसने तो केवल सीखा है, अपनी अनुभूति के दीपक अमावस में जलाकर लोगों के लिए दिवाली बुलाना। इसी प्रकार ये विश्वकर्मा भी तल्लीन रहते हैं अपनी कला की विदग्धता में। अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये भूमि तो चाहिये ही। इनकी भूमि है खिलौने, कला है, जीवन जगाकर मुसकान बिखेरने की।

रोज की भाँति आज भी तैयार होकर बैठा हूँ। माँ कह रही हैं—सुधाकर जलपान कर लो, तब जाओ और तश्तरी में कुछ रख रही हैं कि एकाएक मेरा प्रभाकर हँसता हुआ आकर ठिठक गया। जलपान किया, वह उसी प्रकार वहाँ खड़ा रहा जिस प्रकार किसी दानवीर सेठ के सम्मुख चन्दा पाने के लिए निवेदन करने के पश्चात किसी संस्था का कोई याचक। इसका भान तब हुआ, जब मैंने देखा, वह धीरे से बोला, 'भैया, कल भी नहीं लाये।'

मैंने पूछा—क्या?

उसने कहा—आप रोज भूल जाते हैं, वही खिलौना।

कभी कभी व्यक्ति स्वार्थवश भूलने का बहाना करता है और कभी कभी अधिक सुन्दर कल्पना के व्यामोह में, जिसके आगे याद रखने वाली धातु की चमक का पानी पतला हो जाता है। मैं दो

रोज से भूल रहा हूं, पर कारण दूसरा न होकर पहला ही था। क्योंकि शाम को जब टहलने निकलता हूँ, तो कुछ लोग मिल जाते हैं और अपने घर के राजकुमार की कामना संकोच के घेरे में बन्दी हो जाती है।

'आज जरूर लाऊँगा'—मैंने कहा और उठ कर चल दिया। वह एक टक मेरी ओर देखता रहा। आगे बढ़ने पर उसने कहा—भैया मेरी कसम...? वह मेरी कसम बिल्ली में टीस बन गयी, आज ही क्यों, यह बताना तो किसी मनोवैज्ञानिक का कार्य है।

कालेज की ओर बढ़ा जा रहा हूँ। अनायास, बिना प्रयत्न के मशीन की भाँति। प्रयत्न इसलिये नहीं करना पड़ता है कि पेट की मशीन के लिए वहाँ खाद्य सामग्री मिलती है पर एक-एक कर काल के पट पर अपने पदचिह्न छोड़ने वाले सामने आ आकर कुछ कहने लगे।

हरिश्चन्द्र आये। उन्होंने एक कसम के लिए स्वर्ग को हिला दिया। युधिष्ठिर ने भाव-प्रदर्शन द्वारा बताया कि एक कसम के लिए मैं महाभारत जैसा दुष्काण्ड चाहकर भी न रोक सका। ईसा आये एक कसम के लिये प्राण देने का प्रदर्शन कर गये। चाणक्य की चोटी देखी, मीरा के भजन साकार हो उठे, गांधी की वाणी का अर्थ मूर्त हुआ। पर आज भी एक कसम...।

कितनी बार विद्या कसम खायी है, मुझे स्मरण नहीं। पर आज एक कसम पहेली बन गयी है। सम्भवतः उसके भीतर बलिदान की बेदी पर किसी मेरे मन के राजा की कामना का जौहर होने वाला है, न। अपनी परम्परा रही है कि जौहर के पूर्व पुरुष आत्मोत्सर्ग कर देते रहे हैं। जय श्री की कसम पर हर्ष बनते रहे हैं, जननी की कसम पर प्रताप बनते रहे हैं और अभिमन्यु की कसम पर अर्जुन। इतने कसमकस में इस बुरी तरह पिस रहा हूँ जैसे कोई नाव सागर की उत्ताल लहरों में तूफान के समय।

सोचता हूँ और मानता भी हूँ सन्त तुलसीदास की बात 'स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती, सुर, नर, मुनि सबकी यह रीती।' पर इस कसम में क्या स्वार्थ ?

एकाएक उलझन की गाँठें खुली। कल का नागरिक आज का बालक भी तो आज के वातावरण से अपनी साँसें लेता है। सुन रखा है, बहन, या और बेटी की लाज बेचकर भी कुछ लोग स्वार्थ का सिल्केन सूट बनवाने में नहीं हिचकते। इन कुछ लोगों के समूह का ही नाम तो संसार है। बच्चे पर भी वही छाया पड़ी। केवल किसी की कसम खिलाने मात्र से सिद्धि की टोपी सर पर जादू से आ जाय, तो क्या बुरा ? आदमी इतना महान बन जायेगा यदि युधिष्ठिर समझे होते तो कम से कम कसम तो न खाये होते। कितनी सुकुमार कुमारियाँ खिलने के पूर्व ही आग की लपटों में तो सदैव के लिये जल-जलकर न सोयी होतीं। वे भी लोहे से तेल निकालतीं। पर कष्ट होता, यदि आज वे भोले न होते जिन्होंने भूलकर आदमी को शेर की खाल पहनने से बचा लिया।

घंटा बजा, क्लास में जाना ही है, पर 'मेरी कसम' की लाज मैं निभा पाऊँगा या नहीं—राम जाने।

बड़प्पन का बोझ !

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * [७]

सुना है और स्कूल में पढ़ा भी है कि आकाश में कोटि-कोटि ग्रह नक्षत्र हैं, जिनमें से अनेक तो पृथ्वी से भी बहुत बड़े हैं पर देखा है केवल कुछ टिमटिमाते सितारों को, जो मेरी आँखों के लेन्स में उतने छोटे जँचते हैं जितने बल्ब पर परवाने। कभी-कभी सोचने लगता हूँ कि आँखों में इतना बड़ा लेन्स मेरे निर्माता ने क्यों नहीं बनाया कि सबका रूप इन आँखों की लेन्स से ठीक उतना ही बड़ा देख पाता, जितनी बड़ी वे चीजें हैं। पर इससे मेरी विचार धारा का जो प्रवाह मस्तिष्क के सागर में ज्वार बन कर उठता है, वह सब आनन्द की लहरों में परिणत हो जाता है, जब यह सोचता हूँ कि सभी अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं क्योंकि उतनों को तब न देख पाता, जितने आज दिखायी पड़ रहे हैं। या देख भी पाता तो केवल किसी नक्षत्र का थोड़ा-सा अंश या मेरी आँखें ऐसी हो जातीं जो कुछ भी न देख पातीं, जैसे दिन के समय सूर्य को जी भर देखने का साहस इन श्रद्धानत नयनों में नहीं।

यह तो हुई शून्य की बात। शून्य में विचरण की सामर्थ्य अब तक तो उनको ही रही है जो मन पर कल्पना के पर की खेती करते रहे हैं। वे सर्वत्र घूम कर भी स्वयं शून्य हो सकते हैं। पर मेरे साथ बड़ी कठिनाई है, कि ये आँखें केवल आकाश निहारने की आदी नहीं, धरा पर भी देखती हैं, क्योंकि प्रायः भय बना

रहता है कि कहीं ठोकर न लग जायँ। इसलिए आगेदेखकर ही चलना पड़ता है और चलता इसलिए हूँ कि रास्ते में नये-नये रूप, नया-नया रंग दिखायी पड़ता रहता है, जो आँखों को तो भाता ही है, और कभी-कभी मन की खिड़की से उतर कर हृदय और अधरों को भी गुदगुदा देता है।

सभी मानते हैं, दुनियाँ गोल है। सबकी मानी हुई बात टालने का साहस खुझमें नहीं, इसलिए मैं भी मानता हूँ कि दुनियाँ गोल है। यायावर हूँ, इसलिए राह में चलते-चलते पुनः उन स्थानों पर आ धमकता हूँ जहाँ से एक नहीं अनेक बार गुजर चुका हूँ और कभी उन स्थानों पर भी जिनसे मेरी ममता है। ममता इसलिये कि अपने छोटे से संसार के अनगिन मधुर क्षण वहाँ मुसकराते-मुसकराते बिताकर जीवन यात्रा की दूरी कम कर सृष्टि के नियामक विधाता को बता चुका हूँ कि तुम्हारे दिन से मेरा दिन कहीं सुन्दर, रातों से मेरी रात कहीं अच्छी है, क्योंकि वह मशीन नहीं, जो एक ही धुरी पर चक्कर काटे। जो तुम्हारे हिसाब के बारह घण्टे का होता है, वह मेरे हिसाब से कभी दस और कभी बीस घण्टे का भी।

उसी चक्राकार रास्ते पर चलते चलते पुनः कलकत्ता आया हूँ, पर इस बार के आने में अन्तर है। वह यह कि पहले सर पर बोझ लेकर नहीं चलता था, अब की सर पर एक बोझ लादे हूँ। पहले तो परिचित मार्ग का एक हँसमुख पथिक समझते थे, पर अब बड़ा आदमी समझने लगे हैं। आँखों में सबके जाला या माड़ा पड़ गया है, जो अपना बोझ रास्ते का भार हलका करने के लिए मेरे सर मढ़ देते हैं। बाबूजी ने एक श्लोक कंठस्थ कराया था कि 'परोपकारः पुण्याय, पापाय परिपीडनं'। उसका कुछ-कुछ पालन करने लगा हूँ, क्योंकि उसका अर्थ अब समझ में आया है। अब अनुभव हो गया है कि बड़े आदमी का मतलब होता है बड़ा कुली। अन्तर इतना ही है कि एक का बोझ तो दिखायी पड़ता है और दूसरे का बोझ रहस्यवादी कवियों के प्रियतम की भाँति अदृश्य रहता है।

लगता है, कलकत्ता वही है। हरिसन रोड का बड़ा बाजार वही है, विक्टोरिया पर उतनी ही रौनक है, धर्मतल्ला पर उतनी ही भीड़ है, मेट्रो और लाइट हाउस पर उम्र की शिकन की एक रेखा भी नहीं है और वही है यहाँ पर चलने वाले बाबू-भैया लोग। पर मैं वह नहीं हूँ। जाने अनजाने यार-दोस्त आकर मिलते हैं पर देखता हूँ कि वे वह न रहे। वे और कुछ बन गये हैं, मैं और कुछ। इस बनने में एक जायका है उसका रूप और स्वाद मधु-मिश्रित कुनैन की भाँति है। आदमी जो रहना चाहता है, वह रह नहीं पाता क्योंकि दूसरे उसे वह न रखना चाहते हैं और न देखना। यह सबके साथ होता है, इसलिए ऐसा ही सब दूसरों के साथ करना और देखना भी चाहते हैं।

पहले जहाँ जम गया, एक दुनिया बसा देता था, अट्टहास से अट्टालिकाएँ सिहर उठती थीं। जिसे सुनकर कितनी बार काशी के शंकर की साधना भङ्ग हो गयी होगी पर सुखकराने के अतिरिक्त मन ने अधरों को दूसरी कोई भी आज्ञा न दी।

चार दिन तक बन्दी रहने के बाद पाँचवें दिन उन्मुक्त हो पाया, कुछ घण्टों के लिए पिंजड़े से पिण्ड छूटा। सोचा पंछी के कटे पङ्ख जमें। कल्पना की उड़ान कालिदास के यक्ष से होड़ लेने लगी। निकल पड़ा, सड़क पर, एकाकी कुछ मनकी रेखाओं से अतीत के चित्र बनाता। एक चित्र बनकर पूरा भी न हो पाता कि स्मृति की रेखायें दूसरा चित्र खींच देती। इन अधूरे चित्रों की अलबम का नाम ही तो जीवन है।

जा रहा था, अपने में तरता उतरता, कि पीछे से आकर किसी ने मेरी आँखें मूंद लीं। वैदिक युग में रहता तो ध्यान लगाकर पता लगा लेता कि कौन है; पर वहाँ वाणी का सहारा लिया।

'कौन है?'

'पहचानो?'

'बताओ न।'

'यही'। पुकारते-पुकारते गला थक गया पर लाट साहब बहरे हो गए हैं।'

उस समय सतयुग में था, आँखों से हाथ की पट्टी हटी, कलयुग सामने था।

'अरे! शंभू सबसे मिला, पर तुमसे मिलने की हसरत लिए कल लौट जाता। आना चाहकर भी तुम तक न आ सका! क्षमा करना।'

'अपने लोगों ने क्षमा करना सीखा नहीं। हाँ फिर कभी पता चलता तो गोत्रोच्चार अवश्य कर देता, यदि कभी मिलते।'

यह मेरे परम मित्र शंभूनाथ थे। कभी किसी बड़े आदमी के लड़के थे पर अब स्वयं बड़े आदमी हैं, बहुत बड़े व्यापारी। जब लड़के थे तब मैं भी लड़का। दोनों मुसकान के लटके गाते थे और बड़ों के व्यंग बाण कृष्ण की भाँति मुसकान के सुदर्शन से नष्ट कर दिया करते थे। रास्ते चलते लोगों पर कस देते थे और मुसकरा देते थे। उस दिन वे सभी चीजें सामने नाच रही थीं।

मैंने कहा—पदत्राण है, चाहो तो कस कर दान दो।

उसने कहा, 'बड़े आदमी हो गये हो न। मुझसे बहाना बनाते हो। लाज नहीं आयी; पर तुम तो पुराने बेशर्म हो। एक बात है तुम्हारे में कोई परिवर्तन नहीं, तुम वही हो, तुम्हारी बात वही है, तुम्हारी मुसकान वही, अदा और नजाकत वही और बेशर्मी भी वही है।'

'और तुम'—मैंने कहा।

'दिल वही है दोस्त, पर दिमाग वह नहीं। पहले कोई बोझ नहीं था, अब बीबी साहिबा हैं, बच्चे हैं, व्यापार है, इज्जत भी थोड़ी बहुत है। दिन रात परेशान हूँ, पर अब भाती नहीं, यह जिन्दगी। ठीक, हुआ जो तुम वही रहे।'

'हाँ, जो तुम आज हो वही मैं भी हूँ, पर मैं वह नहीं रहा जो तुम बक रहे थे।'—मैंने कहा।

उसने कहा—जो कुछ तुम हो, मैं जानता हूँ। कृपा कर अब मेरे साथ चलो।

उसका घर वही, वही कमरे, वही गद्दी और वही नौकर, पर मैं वह न रहा। क्यों? पूछता हूँ अपने मन से। पर मन वह नहीं जो उसका उत्तर दे पावे, क्योंकि वह भी बड़ा बन गया है न! समय के साथ वह चंचल और दुराग्रही भी बदल जो गया है।

———

प्रयोग

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * [८]

कबीर कालीन साहित्य में जो महत्व योग का था, देव कालीन साहित्य में जो महत्व भोग का रहा और प्रसाद कालीन साहित्य में जो महत्व स्नेह-शोक का रहा, वही आज के साहित्य में प्रयोग का है।

इस प्रयोग की प्रगति कल्पना-तितलियां उंकदार होती हैं और जब ये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे महारथी को देखती हैं तो वे अस्त-प्राय हो जाते है। ऐसी परिस्थिति में बड़ी भारी मूर्खता होगी अगर इसके विष का जादू प्रेम करने लग जाय---किसी पुरातन से। सुना है नवयुवकों का बड़ा सम्मान और नाम होता है इसके द्वारा, क्योंकि अज्ञेय से अमृत की प्राप्ति इनकी देन है। इनके प्रेम-जाल में फँस तरुण अस्त-प्राय हैं। अब ऐसे की खोज आवश्यक है, जो इन्हें झारे। पर उंक से प्रेम कौन करे ?

साहित्य में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद के साथ ही एक समयोपयोगिता वाद भी घुस आया है, जिसका प्रारम्भ श्री मैथिलीशरण जी गुप्त से होता है। यह इस युग का सर्वाधिक सशक्तवाद है। इस वाद की कड़ाही में झुलस कर हृदय काला पड़ गया था और मेरे कुछ मित्र एक नये वाद का उपदेश देने आये, एक दिन। बात ठीक ही है। पैसा न सही, कम से कम नाम मिले। मैं उसी प्रकार परिवर्तित हो गया जिस प्रकार एक पुलिस की निन्दा करने वाला अधोमुखी लाल पगड़ी देखकर।

अभी तक यही समझ सका था कि हृदय की अनुभतियों का चित्रण ही साहित्य है। इसलिये उसके बाद यह आवश्यक हुआ कि हृदय को भी प्रयोगवादी बना लूं।

नवीनता जब एकाएक झंझा सी आती है तो उसे साहित्यिक प्रलय की संज्ञा देता है और राजनीतिक उसे क्रांति या इन्कलाब कहते हैं। अभी तक हृदय ने अनेक परिवर्तन देखे थे, किन्तु वह इन्कलाबी न होकर नरमदलीय था। आज एकाएक वह क्रांतिकारी हो उठा, इतना बड़ा जितना बड़े न तो चन्द्रशेखर आजाद और न भगत सिंह, क्योंकि कुछ घण्टों में ही उसने एक देश को नहीं, पूरे संसार को बदलने का बीड़ा उठा लिया।

जो आनन्द अवारागर्दी में, उलट फेर में है उसकी तुलना केवल खिचड़ी खाते समय की गाली से की जा सकती है। एकाएक यह शोहदागिरी मजा के मजार का अन्धकार में टिमटिमाता दीप बन गया, जिसके सामने अंधकार में भी मेरे नाम और सम्मान की कामना शहीद सी सो रही थी और आशा जाग उठी कि अब गड़ा मुर्दा सृष्टि के निर्माण के साथ जाग बैठेगा।

नाम और सम्मान जिसे नहीं चाहिये, उसे इस संसार में स्वान की मौत मरना पड़ता है, ऐसा सुन रखा था। फिर जानकर अनजान गतिशील चरण कैसे बन सकते हैं।

प्रयोगवाद की भूमिका के लिए परिस्थितियों ने अवसर प्रदान किया। मामाजी के यहाँ शादी थी। सारा घर उसमें गया था। खुला मैदान सामने था। सोचा अनुभव और अनुभूति अर्जन का उतना ही सुनहला अवसर सामने अपने आप आ गया जितना युद्ध में सामान की पूर्ति का ठीका मिलने पर।

मेरा ऐसा विश्वास है कि बिना अपने में परिवर्तन लाये आँखें बदल नहीं सकतीं और जब तक आँखें नहीं बदलतीं, सभी वस्तुएँ पुरानी आँखों से दिखायी पड़ेंगी। एक साधक को सिर के बल

चलते देख चुका था। सोचा सिर के बल चलूं तो सम्भवतः चीजें कुछ आड़ी, बेड़ी, बाँकी, तिरछी दिखायी पड़ें।

बाहर से आकर सीधे बैठक में गया। वहाँ चौकी पर रखे गद्दे पर प्रयोग आरम्भ कर दिया सिरके बल चलने का। तीन चार बार प्रयत्न चला, सफलता बेड़ी हो गयी पर घूसट गीता बोल बैठी— 'अभ्यासेन तु कौंतेय' और बार-बार अभ्यास करने लगा। कोई छोटी बात तो थी नहीं, झटपट एक दुनियाँ बदलनी थी, इतनी बड़ी दुनिया जिससे विधाता भी इर्ष्या करता है!

गम्भीर जागरूक प्रयत्न आरम्भ किया और छटक कर गद्दीदार चौकी के नीचे जमीन पर गिर पड़ा। कमर में दर्द उत्पन्न हो गया, क्योंकि नयी भाव-भूमि के लिए हृदय की अपेक्षा दूसरा स्थल अधिक अपेक्षित होता और यह स्थल अपने आप मिल गया। यदि उस समय मेरे कमर की भाव-भंगिमा नन्दलाल बसु देख लेते तो सम्भवतः वे संसार के सर्वाधिक भाव-प्रवण कलाकार होते और संसार के सभी कलाभवनों में सोने के फ्रेम में वह मुद्रा रखी जाती। नये प्रयोग से उसी प्रकार का प्रेम उत्पन्न हो गया जैसे चित्रपट पर कालेज के लड़कों के मन में मधुबाला और नूतन से होता है। साहित्यिक सृष्टि के लिए सुन्दर भाव भूमि मिल गयी।

मन में सोचा, अभी कच्चे हो, क्योंकि तुमने भीतरी दर्द का अनुभव तो किया नहीं। चित्र उपस्थित करने के लिए भाव-दर्शन भी अत्यन्त अपेक्षित है। उस समय अपने कमर की लोच न देख सका क्योंकि नये प्रयोग से आँखें पीठपर जाकर न बैठ सकीं।

घर की अनुसन्धानशाला में साहित्य का प्रयोग और आगे बढ़ाऊँ, इस विचार से ऊपर गया। घर भर शादी में चला गया था। श्रीमती जी खाना पकाने, घर देखने के लिये रुक गई थीं, बाबूजी की आज्ञा से।

कमर उसी प्रकार लचकाते हुए, जिस प्रकार कठपुतलियाँ, उनके पास पहुँचा और नये प्रयोग की मुद्रा में उनसे बोला, हलो, चम्पा?

वह सहम गयी। जीवन में पहली बार मैंने उसका नाम लेकर पुकारा, किन्तु उत्तर उसी पुरानी मुद्रा में था—जी, आज्ञा ?

आज उसके हाथ की चूड़ियाँ मेरे आँखों में गड़ रही थीं, उसके माँग का सिन्दूर भद्दा लग रहा था। सामने आइने में मैंने अपना चित्र देखा, आँखें बदल चुकी थीं। पौरुष की निशानी मुझे उसी प्रकार लग रही थी जैसे दाल में नमक का आधिक्य। आले से सेफ्टीरेजर उठाकर मूछों की लंका जला डाली और वह एक टक मेरी ओर देखती रही।

मैंने कहा—'चूड़ियाँ उतार दो।' वह सहम गयी और बोली—'मेरे दुश्मन उतारें।' उसकी यह बात जँची नहीं। मैंने लपक कर उसकी कलाइयाँ जोर से उमेठीं। चड़-चड़ सभी चूड़ियाँ टूट गयीं, उसके हाथ से खून निकल पड़ा। उस समय मैं पत्थर से भी अधिक कड़ा हो गया था क्योंकि इस रस रक्त से प्रयोग देवी को बलि-अर्घ चढ़ा। मेरी साधना साकार होने में केवल सिन्दूर बाधा डाल रहा था।

मैंने कहा—इसे धो डालो।

उसने कहा—मेरी कसम। इसे रहने दें।

यह मेरे सोहाग की निशानी है।

मैंने कहा—सोहाग की निशानी मैं हूँ। यह लाल रंग की मिट्टी क्या होगी। यह तो बड़ी वाहियात लगती है।

वह मौन हो गयी। उसके आँख से आँसू मूक हो टप-टप गिरने लगे। पत्थर पसीजा। पर प्रयोग की भूमिका के भूतकाल के सामने वह उतनी ही फीकी लगी जितना प्रेमचन्द के आगे आज के हिन्दी उपन्यासकार।

हाथ ने प्रयोग की साधन में सहायता पहुँचायी। झट रूमाल निकाल कर मैंने उसके मस्तक की बिन्दिया—भारतीय नारी की सबसे बड़ी सम्पत्ति को—साफ कर दी, यद्यपि उसका प्रतीक मैं जीवित था, क्रान्तिकारी जो बन बैठा था।

खूंटी पर टँगी बुशशर्ट और पैण्ट उतारा तथा उसके बार-बार गिड़-गिड़ाने पर भी बिना रुके उसको पहनाकर ही दम लिया। उस समय वह ऐसी लग रही थी मानो निगार विलाप की मुद्रा में हो। आधी दुनियाँ बदल डाली थी, नये प्रयोग में। पर उसके बाल की वेणी सांपिन सी अपना मुख बनाकर बाहर लटकी थी। झट उसकी वेणी सर पर कर उसपर हैट लगा दिया। अब वह नवीनता की देवी मेरे मानस में नवीन रस का सञ्चार करने लगी जिससे पीड़ा और करुणा की भाव-भूमि तैयार होकर सम्मुख कल्पना सी नर्तक करने लगी।

मैंने कहा---सिनेमा देखने चलो। संकोच से उसने पूछा---क्या इससे अच्छा और कोई सिनेमा हो सकता है?

तब तक बाबूजी की आवाज गली से लगी। मैं चारपाई पर जाकर उसी प्रकार सो गया जिस प्रकार कुम्भकर्ण सोता था। पर मन जाग रहा था, नवीन प्रयोग की सफलता पर मुस्कराने के लिए।

बाबूजी को कुछ देर आसरा देखना पड़ा। तब कहीं दरवाजा खुला।

नवीन प्रयोग का आसव छानकर रंगिनी की दुनिया में सो गया। सबेरा आया। देखता हूँ मेरी पत्नी के हाथ खरोंचे हुये हैं और मस्तक पर अब बहुत बड़ा टीका है।

परम्परा है, बड़ों के चरण छूने की, जब वे बाहर से आते हैं। सोकर उठा और बाबू जी के पास मुसकराता हुआ पहुँचा। वे मेरी ओर विचित्र मुद्रा में देखने लगे, पता नहीं क्यों?

चरण छुआ और कमर की दर्द पर घूसे का चोट लगा, एक, दो, चार, छः।

उन्होंने कहा---क्या मैं मर गया था, जो मूंछ मुड़ा डाली गयी है।

इस मरम्मत के बाद सीधे अपने कमरे में आया, बैठा हूँ---सोच रहा हूँ, यह प्रयोग ही क्यों? तुरन्त मनने उत्तर दिया, प्रयोग के लिए! सोचता हूँ, मेरे वे प्रयोगवादी मित्र मिल जाते तो उनको भी बाबू जी वाला नया प्रयोग बताता। नमस्कार के स्थान पर दक्षिणा भी देता, नये साहित्य की भावभूमि तैयार कराने के लिए।

मेरी हत्या

* * * * * * * * * * * * * * * * * * [६]

आत्महत्या तो लाखों करते चले आये हैं और सम्भवतः जब तक अभाव के पूजक लोग नहीं बनेंगे, मानव के साथ यह क्रम चलता रहेगा। आत्महत्या संसार की सबसे बड़ी क्लीवता हो सकती है पर मैं उन लोगों में अपने को नहीं रख पाता जो उसे शिखण्डी से भी बवतर मानते हैं। मैं प्रशंसक हूँ, आत्महत्या करने वालों का नहीं, उनके साहस का। उन लोगों को निश्चित रूप से नीच मानता आया हूँ, जो केवल जीना चाहते हैं, कुत्तों की मौत मरने के लिए।

अभी तक तो जीवन और मुसकान की ही समस्या से आँख मिचौनी करने का अभ्यासी रहा हूँ पर आज तक यह मालूम नहीं था कि आदमी मर कर भी, अपने हाथों से अपनी हत्या करके भी जीना चाहता है। इसीलिए जीवन में निर्मोही आत्महत्या के साहस का प्रशंसक भी कुछ माने में था।

यह नहीं जानता था कि जी कर, चल फिर कर भी व्यक्ति मरे से भी बुरा होता है और मानव की साढ़े तीन फुटी चलती फिरती लाश से भी दुर्गन्धि आती है।

रास्ते में चलते-चलते कितने काँटे इन पैरों में गड़े और कितनी बार कलंक के रक्त से उन्होंने मेरा इतिहास लिखने का प्रयत्न किया, यह ज्ञात नहीं। पर ये आँखें अभ्यासी बन गयी हैं उन्हें पथ की रज में मिलते देखने की। अभी तक यह अभिमान रहा है कि

हिमालय झुकाया जा सकता है पर यह ज्ञानी मस्तक नहीं, जिसकी शिरायें ऐसी हैं, जिन्होंने झुकना सीखा ही नहीं।

आँखों की बरसात में भींगा हूँ, जीवन के ताप ने मन को झुलसा है, जाड़े में ऊसासों की हिमानी वायु के झोंकों में सी-सी कर कराह उठा हूँ, पर अभिमान है मुझे कि मेरे आँसू देखनेवाली आँखों का अभी तक विधाता ने निर्माण ही नहीं किया। आज मेरे साथ कोई नहीं है; मैं एकाकी दरवाजा बन्द किये चिन्ता मग्न बैठा हूँ। 'प्रसाद' की ये पंक्तियाँ याद आ रही हैं—

ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी ! विश्व-वन की व्याली।
ज्वाला मुखी स्फोट के भीषण, प्रथम कंप सी मतवाली।

प्रसाद के मनु भी सम्भवतः उतने इस सर्पिणी के विष से चिंतित नहीं हुए होंगे, जितना आज मैं। आदमी जहर पीता है तो मर जाता है। पर मैं जी भी नहीं सकता और मर भी नहीं सकता। क्योंकि आदमी मैं उसे मानता हूँ जो उलझी पहेलियों को सुलझाने की क्षमता रखता है। आज पहेली ही अपनी उलझी डोर में मुझे बन्दी बनाये बैठी है और मुझमें इतना साहस भी नहीं कि उसे तोड़ सकूं। फिर भी जीने की कामना अभी मरी नहीं है।

आज का युग जिन समस्याओं से आँखें नहीं मूंद सकता, वे हैं रोजी और रोटी की। पर शुक्रगुजार हूँ करीमन बन्द खुदा का कि उनकी ताप की छाया भी मुझ तक न आने दी और मास्टर और मास्टरी दान-स्वरूप मेरे भाग्य में लिख दिया। इसलिए मस्तिष्क के पैर आसमान में ही पड़ते रहे हैं। पर आज...।

मुझ जैसे बीहड़ व्यक्ति को, जिसे कोई भी बन्धन में न बाँध सका, अपनी ममता और सहानुभूति के कारण दो तीन व्यक्तियों ने उसे अपना अयाचित दास बना लिया है। कामना और अरमान के सुमन भी मन की डाल से तोड़कर उनके चरणों पर चढ़ाने में मुझे अपार प्रसन्नता का ही अनुभव होता है। उन्हीं दो, तीन में एक महिला भी हैं, जो अप्रजा हैं।

दुनिया की शासिका प्रारम्भ से ही वासना रही है। फिर भी वासना की आँखों से देखने का साहस ही नहीं, क्योंकि मैं स्वयं अपने राज्य का शासक हूँ। मेरे पास अपनी आँखें हैं जिनमें किसी से भी कम ज्योति नहीं। उसी आँख से सबको देखता हूँ, पर एकाक्षी नहीं हूँ। दोनों आँखों से देखता हूँ और जब ये आँखें किसी को अपना बना लेती हैं तो 'जो हैं भले बुरे सो मेरे' सिद्धान्त का अक्षरशः पालन करता हूँ।

एक बिरादरी के लोग उसी प्रकार एक दूसरे के जल्दी निकट आ जाते हैं, जिस प्रकार महादेवी के 'चिन्तन के क्षणों में' के अनुसार दुखी एक दूसरे के पास। अध्यापकी व्यवसाय मेरे लिए हो सकता है पर तूलिका ने तो केवल हृदय के चित्रों के रेखांकन की ही कसम खायी है। इसलिए मैं और वह एक दूसरे के निकट आ गये। मञ्जुल ममता की स्निग्ध धारा में हिमालय भी डूब गया और मैं कैदी हो गया ममता की उसी पवित्र सरस्वती में, जिसे भौतिक आँखें देख ही नहीं सकतीं।

नारी विधाता की कोमलतम कलात्मक सृष्टि है, पर पता नहीं क्यों संसार नारी का कला-प्रेम नहीं देखना चाहता। इस मेरी अप्रजा को भी जिसका नाम कमला है, संसार ने ठोकरें दीं। वह न मानी, क्योंकि हृदय की उर्मियों को बाँधने वाला बाँध संसार में है ही नहीं। उसके हृदय ने प्रतिहिंसा के व्यामोह में निर्माण का बीज बोया और एक ऐसे वृक्ष का बीजारोपण किया जिसकी छाया में बैठकर कलाकार शांति पा सकेगा।

इस वृक्ष का नाम है 'प्रतिष्ठान' जिसका एक मात्र ध्येय कलाकारों का पोषण है। यह पोषण भिक्षा या चन्दे के बल पर करने का अनायोजन नहीं था बल्कि उन कलाकारों की कृतियों का वास्तविक मूल्य-प्रदान द्वारा था। काहिलों की वहाँ पूछ नहीं, सच्चे, सधे कलाकारों की कृतियों का व्यापार वहाँ होता है और लाभ उस

प्रतिष्ठान में न जाकर कलाकारों के घर जाने की बात है। ब्राह्मण वृत्तिवाले कलाकार बनिया भी बने। उनका पुण्य प्रभाव पड़ा। राज्ञालिका बनी 'कमला'।

'कमला' के अपार स्निग्ध-स्नेह के कारण मैं इस वृक्ष में पानी देने वाला बन बैठा।

कमला को बाहर जाना था। उसने पहले से ही एक माली रख दिया था, उसकी देख भाल के लिए। मेरे जिम्मे काम सौंपा गया, उसे पुत्र के समान पालने का और निरीक्षण करने का। मेरी कार्यपरता माली को खटकी।

प्रायः जीवन में ऐसा ही होता आया है कि कमजोरी व्यक्ति का भ्रम बन जाती है और उस भ्रम में भ्रमने में उसे कुछ सामयिक सन्तोष-लाभ भी होता है। मैं प्रायः उसकी कमजोरियों को सुधारने का प्रयत्न करता और उसके मन में लगता, मैं उसे हटाना चाहता हूँ। उसकी इस कमजोरी ने प्रतिहिंसा का रूप लिया।

जब किसी अपने से बड़े से प्रतिहिंसा चपत दलाली खेलती है तो उसकी वाणी परोक्ष में शिकायत के रूप में फूट बहती है। पर मैं निर्द्वन्द, निश्चिन्त, अलमस्त।

स्वार्थियों की इस दुनिया में भी कुछ मेरे शुभेच्छु हैं, मुझे इसका सन्तोष है। एक सज्जन मेरे पास आये, दूसरे आये और सभी ने मेरे प्रति 'उगले-विष' की कहानी प्रेमचन्द जी से भी अच्छे ढङ्ग से मेरे सामने प्रस्तुत की। कला वही है जो तन, मन, हृदय सभी को मुग्ध कर ले। उनकी कला फलवती हुई, इसमें रञ्चक सन्देह नहीं और न उन पर अविश्वास करने का कोई कारण ही अब तक रहा है।

माली के मन का चोर मेरी प्रतिष्ठा और आत्मसम्मान लूटने चला। ब्राह्मण की सबसे बड़ी शक्ति पर धावा था, गुमसुम छिपकर एक व्यक्ति का, जिसका मूल्य लगाना उसी प्रकार का कार्य होगा जैसे भारत को सालाजार की चुनौती।

इस वृक्ष से ममता है, कमला का ध्यान है, दायित्व है, सभी भावनाएँ सतरङ्गी धनुष सी आतीं और शून्य में लीन हो जातीं। पर मन ने मौन रहने का आदेश जो दिया है।

'कमला' आयी। उन्हें आभास मिल गया था। पर जानकर भी वह अनजान थी, जैसे कोई भी बड़ा कलाकार।

'भैया, पूजा है, कल आओगे, न!'

साहस न हुआ, कि नहीं कह दूं। इतना कमजोर मेरा हृदय कैसे हो गया, भगवान जानें। पर कमजोर, काहिल और बुजदिल हो गया था, इसमें सन्देह नहीं।

मैंने जहाँ न जाने की कसम खायी थी, वहीं आज जाकर बैठना है। जाना नहीं चाहता था पर मनका अनुशासन चरणों ने नहीं माना। आज ममता का संकेत उन्हें भी प्रिय लग रहा था।

जब सारा संसार बसन्तपञ्चमी मना रहा है। जग के जन-मन पर बसन्त यौवन की सुषमा बनकर छा गया है, तब एक आत्म सम्मान का हारा डगमगाते पांव उस प्रतिष्ठान में पहुँचा और अब वह घर में दरवाजा बन्द करके पुनः बैठा है।

जीवन में पहली बार पानी के मोल आत्म-सम्मान मेरा बिका। रो भी नहीं सकता, हँस भी नहीं सकता, मौन हूँ, महामौन, उसी प्रकार जैसे आदमी मर जाने के बाद।

आज इस बन्द कमरे में भी ईंटों को, खिड़कियों को, दरवाजों को, लाख-लाख आँखें हो गयी हैं। वे सभी अट्टहास कर रहे हैं, क्यों न करें, आज जो मैं मर गया हूँ, पर मेरी लाश बाकी है जो अनन्त में दुर्गन्धि फैलाने के लिए अपने भीतर वेदना की अग्नि छिपाये है।

—:०:—

जय हो इन जलनेवालों की

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * [१०]

बनारस

२२।३।५२

प्रियवर,

अत्यन्त संकटापन्न हो आज पहली बार मुख खोल रहा हूँ। आशा है वाणी निरर्थक न जायेगी।

छः महीने का किराया बाकी है। पाँच, छः बार वादा कर चुका। आज भी वेतन न मिला। अगर आज उसे पचीस भी न दिया गया तो मेरी इज्जत चली जायेगी। आशा है पानी रखोगे।

तुम्हारा ही

.....

यह पत्र किसी ऐरे गैरे खबूस का नहीं, एक साधक का है। नाम लेकर उसकी साधना पर पानी नहीं फेरना चाहता पर विश्वास है मुझे कि प्रायः सभी कलम के धनी उसके नाम से परिचित हैं। आदर और सम्मान की अक्षत और रोली उसकी कला कृतियों पर लगायी जाती है। जब उसके सृष्टि की तह में जाता हूँ तो कला स्वयं पगली सी सर पर चढ़ कर बोलने लगती है और इच्छा होती है लपक कर उसकी तूलिका चूम लूँ।

जिसकी इतनी चाह हो, वह ऐसा पत्र लिखे, पढ़नेवालों के लिए भले ही कष्ट का कारण हो जाय, क्षण भर के लिए भले ही वे

सिहर उठें, पर सहानुभूति दिखाकर उसका अपमान ही तो करते हैं वे, क्योंकि जो सहानुभूति फलवती नहीं उसे मैं घृणा का ही प्रतिरूप मानता हूँ, आम के ठूंठे वृक्ष की तरह।

वह हृष्ट-पुष्ट, लम्बा-छरहरा, कार्यदक्ष व्यक्ति है। जी तोड़ परिश्रम करता है। और अतिरिक्त इसके कि तीन-चार बार चाय पी ले, कोई बुरी आदत नहीं। उस पर से रात्रि में जब पक्षी तक जाकर अपने नीड़ में सो जाते हैं, सपनों का संसार बसाते हैं, वह श्रद्धा के सुमन अभाव के साकार देव के चरणों पर चढ़ा कर अनजाने में प्रकाश का दीप जलाता है। वह अपने जीवन को स्नेह बनाकर जलाने में जरा भी नहीं हिचकता, अपितु आनन्द ही पाता है क्योंकि वह संसार का पथ ज्योतिर्मय करने में ही तो सन्तोष की साँस लेता है।

विश्व,...जिसकी केवल परम्परा रही है, 'स्वारथ लागि करैं सब प्रीती,' को वह ज्योति देने चला है। कितना भोला होता है कलाकार भी, जिसके सामने शिशु की सहज भावुकता भी शरमा जाती है।

जीवन-पथ की अनुभूतियाँ मुझसे प्रायः कहा करती हैं कि भावुकता से तो लोग केवल खेलना चाहते हैं, और ऐसा खेल कि अपनी हँसी के लिए लोग उसके प्राण तक लेने में नहीं हिचकते? पर आदत से लाचार संसार के इन लुटेरों के पथ पर कलाकार ने तो केवल अनजाने आँखों का मोती लुटाना सीखा है। इसलिए कि ये लुटेरे संभवतः कभी चेत जायँ; सज्जनता के भार से दबकर शालीनता के चरण चूम लें और एक नया संसार बसा लें।

वे लुटेरे भी तो आदत से लाचार हैं। इन्हें तो लूटने में मजा मिलता है। लूट का माल मिला, पानी की तरह बहा दिया और फिर किसी नये असामी पर आँख गड़ायी। कोई न कोई जाल में फँसेगा ही और उसकी भावुकता से रस-रंग की गोमती के किनारे

महल बनाने की नयी योजना बन गयी और बेचारे भावुक पीस दिये जाते हैं। पर पिसने में भी तो एक आनन्द है। गेहूँ पीस दिये जाने के बाद श्वेताम्बर होता है और पत्थर टंकार सहने के बाद भगवान्। पर कब तक...?

क्रौंच की व्यथा से जब पहली बार वाणी फूटी, तब से आज तक वह गाता ही तो जा रहा है:—

'वियोगी होगा पहला कवि—
आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।'

वह वियोगी ही रह जायेगा। बेचारा योगी कब होगा? सम्भवतः आज तक कोई ऐसा ज्योतिषी नहीं हुआ जो लग्न विचारे, क्योंकि उस पर चिरन्तन राहु का ग्रहण लग चुका है।

आशा का भावक गर्तन उसकी प्रेरणा के चरण हैं जो राहु से भी अधिक शक्तिशाली है और उसे चिर सुहागिन रखने के लिए उसने सदैव अपने को धोखा दिया है। कभी कभी धोखा खाना भी बड़ा सुखकर लगता है क्योंकि उस धोखे में किसी अपने की प्रतिष्ठा जो छिपी रहती है। और भला, भोला भावुक कलाकार अपनी चिर सहचरी आशा को कैसे विधवा बना दे?

आशा और संसार का प्रश्न होता तो एक सीमा तक ठीक था पर कुछ कलाबाज उसी पेशे में आकर कलाकार बन बैठते हैं। वे उसकी पीठ में कटारी भोंककर सहानुभूति की रूमाल निकाल कर पट्टी बाँधते हैं, और उसके खून से लक्ष्मी को रोली लगाते हैं। जब ब्राह्मण-वृत्ति का पोषक कलाकार बनियाँ बन जाता है, तो वह वर्णसंकर हो जाता है। वर्णसंकरता कितनी भयंकर है, यह सातवीं कक्षा में ही गीता में धर्म के क्लास में जान चुका हूँ। तबसे मैंने

वर्णसंकरों की सत्य बात भी झूठी मानने का अभ्यास कर लिया है। भय-वश, पता नहीं आस्तीन के साँप कब संहारक बन बैठे।

अवसर पाया कि वे डंक मारे, जिसका विष जीवन पर्यन्त चढ़ता ही रहता है। अनुभव है कि एक दिन एक सज्जन जो जन्मना ब्राह्मण हैं, कर्मणा बनियाँ, पर हैं ब्राह्मण वृत्ति के पोषक और कला और कलाकारों के लिए कलावती गङ्गा सी दया दिखाने वाले, एक दिन आये मेरी सदा सुहागिन की प्रशंसा करने लगे। मेरी समझ में नहीं आया, क्या बात है, क्योंकि बाबू जी ने जनेऊ के अवसर पर दीक्षा दी थी कि तुम्हारे स्वार्थी प्रशंसक तुम्हारे सच्चे शत्रु हैं। 'चीनी-यात्री' की रूपरेखा प्रस्तुत करते समय गोल्डस्मिथ ने भी तो 'मैन इन ब्लैक' द्वारा इनके कृष्णमुखी कार्य-व्यापार की प्रशंसा की है; जिसका प्रभाव अब भी मन पर है—अमावस की काली रात की तरह।

उन्होंने प्रस्ताव रख दिया मुसकराते हुए—आपका 'ब्रेन' जीवन पर्यन्त खरीदना चाहता हूँ, कागज के कुछ टुकड़ों पर। उस समय मुसकराकर रह गया और धीरे से बोला, 'क्षयशील सम्पत्ति का अधिकारी मैं अपने को बन्धन के बाजार में नहीं बेच सकता। सम्भव है परिस्थितियाँ भविष्य में बाध्य कर दें। पर अभी बाबूजी जीवित हैं, भोजन मिल जाता है, अवसर आने पर सबसे पहले आप का ध्यान रखूंगा, देखिये कहीं भूल न जाइयेगा।'

दाल न गलती देखकर यह बात टालकर पुनः मेरी प्रशंसा गिरगिट की तरह करने लगे, पर मस्तक पर शर्म की एक शिकन भी न आयी।

जिस कलाकार की छाया में बैठकर कितने आज सरस्वती के दरबार के प्रधान पंडे बन बैठे हैं और जिसे कितने पितृ-तुल्य मानते हैं और जो अनेकों के लिए सब कुछ हैं, उनके सम्बन्ध में भी वह हाथ सफा करने से न माने। सोचा, इस पर दाल नहीं गली, इसके

सिद्ध-पीठ को नापा जाय। स्थूल प्रवंचना सभी कुछ कथक् के नाच के रूप में आने लगी, मादक, सुन्दर, मन मोहक।

मेरी एक अग्रजा 'कलना' हैं, उनके आदेश का पालन मेरे लिए प्रसन्नता और संतोष की वस्तु है। उनके नाम तक का उपयोग अबकी बार किया गया, सम्भवतः मेरी कमजोरी समझ कर और एक नये बड़े शिल्पक ने अबकी सूत्र से स्नेह किया—छोटे अल्ल के संकेत पर। उनकी तूलिका जीवन-पर्यन्त खरीदने का चारा फेंका, सुन्दर रूप से। पर मैं सावधान था, वैसा ही उत्तर भी दिया। सम्भवतः मेरी इस कमजोरी पर मेरी अग्रजा भी गुस्से रुष्ट हैं।

चिन्ता नहीं, क्योंकि 'देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है'। इन कलाकारों के खरीददारों की सामर्थ्य भी देखनी है।

पर सोचता हूँ, मैं और कुछ ऐसे लोग ऐसा कर सकते हैं। क्योंकि भोजन का सहारा दूसरा साधन है। वे कलाकार क्या करें जिनका सब कुछ कला में ही है, उसके अतिरिक्त जीविका का दूसरा साधन भी नहीं क्योंकि उन्होंने उसी को सँवारने में अपने को मिटा दिया। यहाँ राख नहीं लोग बटर सोना खरीदते हैं, और इनका बटर इनकी कला है।

लाचार हैं बेचारे पैसे पर अपना सब कुछ बेचने के लिए, क्योंकि परिस्थिति दमयन्ती को भी दाँव पर लगाने के लिए बाध्य करती आयी है।

खेद है, ये अमर सृष्टि के उद्भावक स्वयम भी कागज के टुकड़े पर बिकते हैं।

लाचारी है उनकी, कला को लानत है, पर लाचारी की लोरी के इन उद्भावकों का जयघोष मेरे जैसा अहंकारी भी कर उठता है।

क्यों न करे! ये विभूति रमानेवाले अपने को जलाकर तिमिर में दीप जलाते हैं। और कहना पड़ता है कि किसी के शब्दों में 'जय हो इन जलनेवालों की।'

पर एक सोच के साथ, काश ! मैं खरबपति होता। पर दूसरे ही क्षण यह कल्पना सिहर उठती है, क्योंकि भय लगता है कि तब मैं भी वही होता, लुटेरा, चोर, उचक्का। क्योंकि बड़ी पुरानी परम्परा है, न !

—:o:—

दीप जले, दीप बुझे

आकाश के पास चाँद और सूर्य के दीपक हैं तथा कुछ तारे भी हैं, और धरती का दीप मानव है जिसकी लौ से सारा संसार ज्योति की किरणों से उसी प्रकार जगमगा उठता है जिस प्रकार रवीन्द्र बाबू के नायन जोर के बाबू लोगों का अतीत जग-मग होता था।

"तमसो मा ज्योतिर्गमय" से लेकर कागज पर "क्षमा" तक का जलना देखा है। इन जलन में एक जादू भी प्रत्यक्ष हुआ कि प्राण-में जलने वाले ये दीप कागज को जला नहीं पाते। उसके हृदय में विश्राम बनकर मुसकाते हैं। उस विश्राम में जग-मग का सन्तोष आनन्द से परिचय प्राप्त करता है। मैंने भी उससे परिचय प्राप्त किया। आनन्द के लिए प्राप्त किया गया परिचय भूलता नहीं। मेरा भी परिचय इन दीपों से, जो मेरे लिए ज्योति की किरणें बन कर तिमिराच्छन्न पथ पर आये, स्थायी-सा हो गया।

मिट्टी के तन में प्राण का दीप जलाने वाले विश्व का किरण बिन्दु मानव भी मिट्टी का दीप जलाता है, इसका ज्ञान तो बालपन में ही हो गया था; क्योंकि मेरे घर पर बिजली की कृपा नहीं। लेकिन उसकी आवश्यकता का अनुभव तब हुआ जब शिखर से मार्ग में एक बार पाँव फिसल गये और मेरी वही स्थिति हुई जो कि एक बालक की खिलौना टूटने पर होती है। और भी तो, जिस व्यक्ति

को रात में दिखलाई पड़ता है उसकी सीमा मानव-जगत से अलग हो कर पक्षी-जगत के एक प्राणी में की जाने लगती है। वह बनना किसी को पसन्द नहीं, बनाना सभी चाहते हैं। मैं भी बनने के लिए तैयार नहीं। इस कार्य में दीपक से सहायता मिली। इसलिये वह धन्यवाद का पात्र है।

विधाता ने अपनी सृष्टि संवारने के लिए मानव का निर्माण किया और मानव अपने को, अपने वातावरण को संवारने के लिए अपने लिए उपयोगी वस्तुओं का विधाता बना। उसके इस यात्रा की कहानी में उसकी सबसे बड़ी विजय इस प्रकाश-दीपिका का निर्माण रहा। इस विजय स्मिति को राम के पूर्व ही मानव ने पहचान लिया था। राम-राज्य का दीपोत्सव युग के रावण पर विजय प्राप्ति के लिए प्रतीक स्वरूप उपस्थित हुआ, जिसे देखकर शून्य के तारे भी लज्जा का घूंघट ओढ़े बिना न रहे होंगे।

अतीत में अनगिन बार विजय-स्नेह से सिंचित दीपक जल कर मानव मात्र के लिए उल्लास की अजस्र किरणें 'प्रसाद' की हल्की मसलन की भाँति सौन्दर्य बिखेरे होंगे, पर उस अतीत को देखने की क्षमता इन आँखों में नहीं। बड़ों से सुना था कि जब तक कोई बात अपनी आँख से न देखो, तब तक उसपर विश्वास न करो। बड़े ही तो मेरे निर्माता, उनकी बात पर अविश्वास का प्रश्न मेरी कामना के प्रदेश तक में पङ्ख नहीं फटकार सकता और भी तो है, आज के युग में सभी बातों को बुद्धि के नेत्रों से देखना आवश्यक समझा जाता है। जो व्यक्ति युग के साथ नहीं होता, उसे लोग ईसा के पहले का आदमी घोषित करने में संकोच का सहारा तक नहीं लेते। मैं पीछे लौटने के लिए तैयार नहीं, इसलिये इसका परीक्षण आवश्यक था।

भारत माँ का पाश चट-चट चटका। धरती पर सत्य की सबसे बड़ी विजय हुई। उल्लास की अजस्र वर्षा में सब सावन के मयूर की

भाँति मस्त-मस्त हो उठे। इस दुनियाँ के लोगों ने भी उस दिन दिखा दिया कि मा की मुक्ति के उपलक्ष में हर्ष के जो दीप मिट्टी वालों की दुनिया में जल रहे हैं, उनके आगे आसमान के तारे खद्योत हैं। उस दिन से मैंने मान लिया कि मानव के विजय, हर्ष, उल्लास का सबसे बड़ा प्रतीक दीपक मात्र नहीं अपितु तम में नयनों के ज्योति दीप भी है। इस मान्यता को साहित्य का सहारा मिला। थोड़ा बहुत जो कुछ भी पढ़ सका हूँ सर्वत्र इसकी गुणगाथा न केवल भारत के लोगों ने गायी अपितु संसार के सभी वर्गों ने मानी है। धवल से लेकर लाल किरणों तक का दर्शन मैंने किया। सभी सुन्दर, सभी मनमोहक।

संसार के दीप्त अभ्युदय का वचन से हिमायती होते हुए भी मन के स्वार्थ की काली कमरी पर दूसरा रङ्ग नहीं चढ़ा पाया प्रयत्न भी किया, पर बेकार गया। जो कुछ भी है, अपने से दुराव करने का मैं पक्षपाती नहीं, परिणाम जो कुछ भी हो। इसलिए ईर्ष्या और जलन के हाथों से मुक्ति की माला भी न फेर सका और इतनी बड़ी दुनियाँ के बीच मन ने अपनी नन्ही सी दुनियाँ रच ही डाली, उस दुनियाँ को संसार की मान्यता प्राप्त है या नहीं इसका बिना ध्यान किये, मैंने निर्माण का कार्य आरम्भ कर दिया।

इतना समर्थ तो नहीं कि बच्चन की भाँति मेरी मधुशाला दिन में होली और रात में दिवाली मनाये। असीम पथ पर चलने वाला सीमित शक्ति का विधाता मैं नश्वर प्राणी हूँ। ज्योतिषी, जो हाथ की रेखा देखकर जीवन के काल की सीमा निर्धारण किया करते हैं, पहले ही बता चुके थे, अचानक मृत्यु का आमन्त्रण मेरे पास आयेगा, इसलिए समय का अभाव भी निर्माण में चिन्ता का विषय अवकाश के क्षणों में बना ही रहता। फिर भी मैंने अपनी दुनियाँ बसा ही ली।

दुनियाँ होगी तो रात और दिन होगा ही। रात का पूजक इसलिए नहीं बना कि मेरे संसार के सम्राट को तम के परदे में आना भाता है बल्कि इसलिए कि दैनिकी के पृष्ठों का परायण करके पथ की भूलों को सुधार सकूं और प्रभात को निमन्त्रण देकर निद्रा के आँगन में शान्ति और मधुर स्वप्न से आँख मिचौनी कर सकूं। परायण के लिये प्रकाश की आवश्यकता पड़ती ही है इसलिए दीप से व्यापार करना आवश्यक हो गया। लोग 'तन का दिया प्राण की बाती' से अपना दीपक जलाते हैं पर मेरा तन और प्राण जलाने के लिए नहीं, अपनी दुनियाँ को सँवारने के लिए है, अतएव मैं वैसा न कर सका।

यौवन की वेदी पर शैशव का होम जब मैंने चढ़ाया तो वरदान में सिद्धि थी फलस्वरूप रिद्धि मिली थी। रात में इसी स्नेह-स्थिति से दीप जलाता चला आया हूँ। रही दिन की बात, दिन में दीप जलाने का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो दीप्ति की किरणें विश्वासी चरणों से अपने आप दमकती रहती हैं। मेरे भी सङ्गी और साथी थे। उन्होंने भी अपनी दुनियाँ बसायी।

उनकी दुनियाँ में भी मैंने दीपों को जलते देखा है। किसी का दीप आभापूर्ण, किसी का जीरो पावर के बल्ब की भाँति टिमटिमाता हुआ। उन दीपों में किसका स्नेह जलता है, यह तो न जान पाया और न जानने का प्रयत्न ही किया मैंने। पर दीप जलते देखा है और यह भी जानता हूं कि बिना स्नेह से दीप नहीं जल सकते। किसी के स्नेह का अनुशीलन और परीक्षण निकटता को दूरी में परिवर्तित कर देता है। इसलिए कुछ दिन का मेहमान होने के कारण मनमुटाव किसी से नहीं करना चाहता, नाहक हो जाय तो चिन्ता भी नहीं।

यह तो औरों की बात हुई। मैंने देखा, मेरा दीपक जल रहा है। कभी-कभी हवा के झोंके उसे बुझाने आते हैं पर उसकी टिम-

टिमटिमाती लौ की आँच में झुलस कर वे प्रायः वापस लौट जाते हैं, झुलसे हुए, जले हुए। वे भी उसे बुझते देखना चाहते हैं जिनके संसार का दीपक बुझ चुका है। वे प्रयत्न करने से भी बाज नहीं आते पर मेरा दीपक जलता ही रहता है रात में प्रागवान वरदान सम्पन्न जो ठहरा।

अधिक दिन नहीं हुए सृष्टि की गंगा के तट पर दुनियाँ की लहरों में दीपों का मेला देखने चला गया। लहर उन दीपों को अन्धकार पूर्ण भविष्य की ओर लिए चली जा रही थी। वायु की थपकियाँ उन्हें अनन्त जलराशि में डुबाकर सदैव के लिए सुला रही थीं। सोचने लगा जब ये अनन्त दीप जो अनादि काल से जलते, बुझते, विलीन होते चले जा रहे हैं तो मेरी दुनियाँ का यह प्रभा पूर्ण दीप कब तक समय की लहरों से, वायु के थपेड़ों से अपने को बचा पायेगा।

चिन्ता में मन उतर रहा था कि आँखें ऊपर उठीं, देखा, दूर गगन में नभ का एक दीपक टूटकर खण्ड-खण्ड हो गिर रहा है और शून्य में न जाने कहाँ क्षण भर में ही विलीन हो गया।

आह भरी आँखें कुछ नीचे गिरीं। बीच में आँखें एक टक बध गयी आकाश दीप पर जिसकी सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध था। सोचने लगा धरती और आकाश के बीच का यह दीपक कितना भाग्यवान है। पर यह टीस विडम्बना के बरसते बादल लेकर आयी जिसमें कामना के पङ्ख भींग गए। अनजाने बेचारा स्नेह के अभाव में निर्वाण प्राप्त करेगा, जिसे कोई देख भी न सकेगा, आंसू बहाना तो दूर रहा। चिंता ज्वलन का जाल बुनती गयी। मेरे दीप का क्या होगा, उसमें अमृत का तो स्नेह नहीं। अगर अमृत ही हो तो भी जिस धरती पर मेरा दीप जल रहा है, वही जब धसक कर विलीन हो सकती है तो मेरे दीप का क्या ?

रह-रह कर यह भी भय लगता है कि मैं जिन्दा रहूँ और कहीं औरों की भाँति स्मिति का मेरा दीप कहीं बुझ गया तो क्या होगा। अपने विश्व की खिल्ली उड़ाये जाते कैसे देख सकूंगा? आंखें फूट न जायेंगी। फिर तो लोग हँसेंगे।

इसी चिन्ता में गरदन तक डूबा हूँ कि कहीं दूर से रेडियो की आवाज आयी :—

अनगिन दीप जलाये मैंने, अनगिन बार बुझे।

अब गर्दन भी जल में डूब चुकी है पर एकाएकी बिजली कौंध उठी कि चलूँ कि एक बार और देख लूँ कि हृदय प्रवेश के दीप में स्नेह तो कम नहीं हो गया है, वह प्रकाश की किरणें तो बिखेर रहा है न। चल ही पड़ा स्नेह दान करने।

और चाहता हूँ यह एक बार तब तक कम से कम एक बार तो बना ही रहे जब तक ज्योतिषी की बात सत्य न हो। मेरे न रहने पर उसे स्नेह-दान करने कोई थोड़े ही आवेगा। सबकी अपनी दुनियां है न।

—:o:—

पत्र, जो भेज न सका

.....,

सादर प्रणाम ;

अनेक बार तुम्हें पत्र लिख चुका हूँ : आज कोई नयी बात नहीं है, फिर भी पहले पत्र लिखने में जितनी प्रसन्नता होती थी, आज उतना ही विषाद हो रहा है। यह पत्र इतना लम्बा है जितना लम्बा पत्र जीवन में मैंने कभी लिखा भी नहीं और इसकी लम्बाई को छोटा करना चाहकर भी छोटा नहीं कर पा रहा हूँ, ताकि तुम्हें पढ़ने का कम से काम कष्ट उठाना पड़े। इस पत्र में 'आप' शब्द का प्रयोग करना चाहता हूँ, पर जीवन भर ऐसा नहीं किया, उसकी सहज-अवस्था, जिसे कबीर के शब्दों में 'खसमावस्था'—पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्याख्यानुसार कह सकते हैं, बनाये रखना चाहता हूँ। इस पुरानी भूल के लिए क्षमा चाहूँगा।

राजस्थान के रेगिस्तान के एक नगर के बीच ; ऐसे नगर के बीच, जहाँ की पवित्र भूमि पर बहन की आन पर भाई युद्ध करते-करते मर मिटते थे और बहन भाई की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये अपना रूप-रङ्ग और उमङ्ग, जीवन और जवानी की उमङ्ग आग में जला देती थी ; हँसते-हँसते हमारा तुम्हारा परिचय हुआ यद्यपि नाम का परिचय पुराना था। परिचय की बेल फूली ; फल लगा और तुमने कहा एक दिन मेरे कारण तुम्हारा मस्तक कभी न झुकेगा।

लोग, जिन्हें तुम्हारा-मेरा सात्विक स्नेह पसन्द नहीं था, लगे तुम्हारे अतीत के वे पृष्ठ उधेड़कर रखने जिन पर न तो मेरा कभी विश्वास था, न हो सकता है; भले ही तुम क्यों न अपने मुख से उसे सत्य बनाकर मुझसे कहो।

तुमसे भी लोगों ने मेरे सम्बन्ध में निश्चय ही कहा होगा और कहते होंगे कि मैं वैसा हूं; तुम्हें सतत हानि पहुँचाता हूं, यह तुमसे कही गयी बातें हैं, इसपर तुमने क्या सोचा, गुना या विचारा—मैं नहीं जानता। इतना जानता हूँ कि मेरे प्रति तुम्हारे हृदय में इतनी अधिक उदारता है कि तुम स्वार्थ को भी लात से पूज सकती हो। इसलिए जो भी तुमने सोचा, समझा होगा, मेरे भले के लिए ही।

सम्भवतः यदि मैं भूल नहीं करता हूँ तो तुम्हारा चरण कम से कम मुझसे दस वर्ष पूर्व ही धरती पर पड़ा है। तुम्हारा अनुभव निश्चय ही मुझसे अधिक है! इस बड़ाई की बड़ाई भी रखनी ही है। मैं किसी को अपना बनाता नहीं, यदि बना लेता हूँ तो साथ देने में भी हिचकता नहीं—यह तुम नहीं, सारी दुनियाँ जानती है। अपनों पर क्रोध करना मेरे लिए उतनी ही साधारण बात है जितनी साधारण बात किसी अपने का मुझ पर कुपित होना। यह तुम्हें बता चुका था, फिर भी...।

एक दिन मेरा भाई जो तुम्हारे कारण मेरा भाई बना था, मुझसे कहने लगा कि 'भृगु-क्षेत्र में उत्पन्न, अनङ्ग देश में पठित, प्रयाग में विराजमान तुम्हारे एक अन्य भाई ने तुमसे कहा कि मैं तुम्हें गालियाँ—ऐसी गालियाँ जो नीचता की प्रतीक हैं, देते हुए साइकिल से चला जा रहा था। यह बात उन्हीं प्रयागी के एक भूतपूर्व अनङ्गी काशीस्थ अध्यापक ने सुनी।' मैं अवाक् था। उस तथा-कथित साहित्य के अध्यापक तथा प्रयागी सज्जन को मैंने इस बातपर काफी फटकारा और स्पष्ट कह दिया कि यह नीचता है। पर उन्होंने इस बात के कहने से साफ इनकार कर दिया। अब सत्य कहाँ है, राम जानें?

मुझे यह भी बताया गया कि उस बात का तुम्हें अनन्त खेद रहा, अतएव मैंने यही उचित समझा कि यदि मेरे कारण तुम्हें नाहक कष्ट हो रहा है तो क्यों न अपने को अलग खींच लूं। प्रयत्न भी किया। पर तुम्हारे अतीत का स्नेह मुझे खींचता रहा और मुझे सानिध्य बनाये रखना पड़ा। सच है यह सानिध्य क्षोभ और ममता की रस्साकशी में दम तोड़ता गया।

मैं जानता हूँ कि तुम्हारा भावण मृदु है। मेरा स्वभाव उग्र, हठीला एवं बाँका है। तुम्हारा मन भी ऐसा ही है पर तुमने अपने भावों के वितान में अपने मन को ढकने का पक्का अभ्यास कर लिया है। यह मैं जानता था। इसका उपयोग तुमने मुझपर भी किया, इसे मैं जान गया; क्योंकि अनेक बार इसका उपयोग तुम्हें करते देख चुका हूं। प्रतिहिंसा नहीं, ग्लानि जागी।

मेरे अकड़ की ऐंठन कभी कम नहीं होती। इसका कारण तुम्हारे जैसे लोग हैं जो निरन्तर मेरी भूलों को पुचकारते हैं। मैं समझता था और ठीक समझता था कि मेरी अकड़ एक दिन तुम्हारी छाया मेरे सर से उठाकर रहेगी और वह उस दिन सत्य लगा जब मेरी वह पुस्तक जो मैंने अपनी रजत वर्ष-ग्रन्थि पर तुम्हें दी थी; मुझे वापस कर दी गयी; बहाना बनाकर। तुम्हारे हाथों ने उसे दिया। मन तो काँप रहा था पर हाथ में आकर वह किताब गिरी नहीं, घर तक चली आयी।

उस दिन से निरन्तर सोचता रहा हूँ कि वास्तव में भ्रम की दीवार के भीतर स्निग्ध-स्नेह उसी प्रकार चुना जा रहा है जिस प्रकार कभी औरङ्गजेब ने किसी मूर्त कामनाओं के प्रतीक को चुनवाया था। यह प्राचीर ममता की भूमि पर खड़ा किया जाने लगा। पैसों की इस दुनियाँ में राजगीरों की कमी नहीं, वे तो अवसर ढूंढ़ा करते हैं।

उस दिन जब श्रद्धा-सी तुम्हारी मूर्ति सड़कर दिखाई पड़ी, मैं दूसरी पटरी पर तुम दूसरी पर। दोनों ने एक दूसरे को देखा। मैं आगे बढ़ गया। जाना तो मुझे भी चाहिए था पर मुझे ग्लानि थी,

इसलिये कि मेरे मन ने यह समझ लिया था कि जो मैं पहले समझा जाता था, उसका उलटा अब समझा जा रहा हूँ इसलिए समझ का फेर भी उलटा हो जाय तो कोई कठिन नहीं।

लेकिन तुम्हारा मन कब का मानने वाला। अवसर देखा चाटा लगाने के लिये बुलवा लिया। गया भी तुम्हारे यहाँ, यद्यपि जाना नहीं चाहता था, तुमने वही पुराना प्रयोग मेरे ऊपर फिर किया। वह ऐसा सात्त्विक वृत्ति का प्रयोग है कि शत्रु भी अपने को भूल जाता है और मैं तो अद्धालु...।

मैंने समझा मन का मैल मिट चुका होगा पर वह जमा था। मैं पुनः पुरानी अवस्था में आ चुका था और इसी कारण सड़क पर उस दिन तुम्हारे पास गया। तुम काम में व्यस्त रहने का बहाना बना मेरे घर पर केवल एक मिनट के लिए अपने पैर रखने के लिए तैयार न हुईं, उस वितान के सहारे। मैंने सोचा सब व्यर्थ है।

यह दुनियाँ है, यहाँ लोग मिलते हैं, अपने होते हैं और अलग हो जाते हैं। इसी भाँति हम भी...। पर जब तक जीवनमें स्मृति का अवशेष बचा रहेगा उन पवित्र क्षणों की स्मृति हरी रहेगी, जिन क्षणों में धरती पर स्वर्ग उतर आया था। रङ्क राजा हो गया था। अतीत बड़ा प्रिय है न। यद्यपि आज स्वर यही गा रहा है— 'निराला' के शब्दों में—

'हर सिंगार के फूल झर गये
कनक रश्मि से द्वार भर गये,
चिड़ियों के कल कण्ठ भर गये
भस्म रमाकर चला विरागी।'

और अब मूक आशीर्वाद की कामना मात्र है, जिसे माँगूगा नहीं, मिल जायेगा तो कुर्त्ता फैलाकर आँख में आँसू लाकर स्वीकार कर लूंगा, पर जयकार नहीं करूँगा, क्योंकि स्वर में बोलने की क्षमता न रहेगी।

दुनियाँ के घर रंगीला जो ठहरी

* [१३]

गरीबों के घर पर एक बार रङ्गीनी आती है, वर्ष में एक बार। जो चेहरे निरन्तर पीले रहते रहते सूख जाते हैं, वे भी एक-बार सही—अपने कपोलों पर गुलाब के रङ्ग मलवा कर ही सही गुलाबी लाते हैं। पर मैं जो सदैव गुलाबी संसार में यायावर से टहला करता हूं, जब सारी दुनियां रङ्गीन हो जाती है, एक टक देखता रहता हूं। लोग पूछते हैं क्यों? हमारे रङ्ग में रंग जाओ। शर्म के मारे कह भी नहीं पाता कि मेरा संसार सबसे अलग है। मेरे घर के बिन आज रङ्ग से प्रेम नहीं किया जाता? यार लोग कबके मानने वाले, दरवाजा बन्द करके बैठे रहने पर भी नहीं छोड़ते। उन्हें तो अपनी मुस्कुराती दुनियां चाहिये, मेरी दुनियां भले ही में जलकर काली पड़ जाय। परम्परा जो है—गुलाल मलने की!

एक रात थी जब दुनियां के घर अमावस था और मङ्गल के हृदय पर यौवन की नाव हिलोरें ले रही थीं। लहर-लहर में मेरी चांदनी छिटक रही था और मेरा चांद धरत के फूलों को भी लजवा रहा था। रङ्गीन पट पर मेरे यौवन की मूर्तसंपदा अपने आलम्ब की सुधा से सुधाकर का अन्तर घट भर रही थी।

बचपन का तट छोड़ चुका था, बुढ़ापा का कूल दूर था। दोनों आँख से ओझल। पर मैं था, मेरी यौवनतरी की पतवार थी, जिसका छप-छप दूरागत वंशी के रवकी भांति आज भी प्राणों में गूंज उठती है।

उसके कपोल की लाली उमर खैयाम द्वारा वर्णित अँगूरी का आसव पिला रही थी और बच्चन की मधुबाला जिसे देखकर शर्मा उठी थी उस समय।

परम्परा का उपासक मैंने आज सोचा दुनियाँ रङ्गीनी मना रही है मैं भी अपने चाँद पर गुलाल की एक सौरभ भरी मुट्ठी क्यों न मल लूं और अनुभव करूँ कि वह कौन सी हलकी मसलन है जो कानों की लाली बन जाती है।

प्रेम के साम्राज्य में सर्वाधिकार सुरक्षित रहता है। उस अधिकार के उपयोग का अवसर एकाकी आया। रस-रञ्जित हाथ आगे बढ़े। एक बार वे शर्माये, पर न माने। दूसरी बार बढ़े, कोई रोक, रोकर नहीं—बाँह झकझोर कर बोल उठा—मेरे मित्र नर्मदेश्वर उपाध्याय के शब्दों में 'मैं किसी की माँग का सिन्दूर हूँ।' थर-थर काँपने लगा। हाथ रुक गये।

नियति के अकाण्ड ताण्डव के गाल का ग्रास बनाकर एक सुकुमार मनका सपना; और सम्भवतः संसार के आज तक निर्मित अणुबम छाती पर बरस पड़े। प्रलय आ गया। पूर्णिमा संसार की सबसे भयङ्कर अमावस में परिवर्तन हो गयी। उस कतल की रात के बाद जब कभी भी रङ्ग देखता हूँ, यौवन-प्रदेश की अणुलीला के सम्मुख प्रेम शब्द हृदय के कोष से फाड़ फेंकता हूँ। पर दुनियाँके घर रङ्गीनी जो ठहरी!

जो याद है

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * [१४]

जब विधाता मेरा विधान बनाने लगा तो उसने सोचा कि इस घर में एक ऐसा तत्व भी चाहिए जो मध्यस्थ रहे। आज के युग में मध्यस्थ जितना जीवन का अनुभव उठाकर आनन्द पा सकते हैं उतना अन्य नहीं, क्योंकि उनका दो तरफा मान और सम्मान होता है। दोनों ओर के लोग पूजते और अभ्यर्थन करते हैं। इसलिए विधाता को धन्यवाद देता हूँ कि बड़ों से स्नेह की वर्षा होती है और छोटों पर रोब गालिब करके काम चल जाता है। उन संत कवियों का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरे पक्ष में वेद वाक्य लिख दिया है:—

क्षमा बड़न को चाहिए, छोटन को उत्पात।
कहाँ विष्णु को घट गयो, जो भृगु मारी लात॥

× × ×

नीच निचाई नहीं तजै, जो पावै सतसङ्ग।

× × ×

दोनों सिद्धान्त अवसर और समय के अनुकूल अपना लेता हूँ।

मैं मध्यस्थ इसलिए हूँ कि मेरे एक भाई मुझसे बड़े और दूसरा भाई मुझसे छोटा। ठीक उसी प्रकार एक बहिन मुझसे बड़ी और दूसरी छोटी।

बड़े भाई साहब से प्यार मिलता है और छोटे भाई पर रोब गालिब करता हूँ, उसी प्रकार जिस प्रकार किसी कालेज का हेडक्लर्क

रजिस्टर में कुछ गलती हो जाने से नये अध्यापक से। सरकार साहब और शास्त्री जी पर रुआब गाँठना टेढ़ी खीर हो जाती है क्योंकि माँ उसके साथ होकर बैलेन्स बिगाड़ देती है। सरकार साहब का मतलब मेरे घर के कोश में होता है मेरी बड़ी बहन और शास्त्री जी का अर्थ होता है छोटी बहन। इन दोनों के पतिदेव अर्थात् मेरे जीजाजी इसी नाम से विख्यात हैं। मैं उन लोगों में हूं जो किसी भी दम्पति को एक ही मानते हैं और ७ वीं कक्षा में हलुआ पण्डित (धर्माध्यापक) ने रटाया था कि एक दान घर से आरम्भ होता है (चैरीटी बिगिन्स एट होम)। उसी व्रत का पालन करता हूं। इससे कुछ मनोरंजन हो जाता है क्योंकि कभी कभी मेरी बहनें मुझपर झल्ला जाती हैं। अपनों को झल्लाने में उतना ही आनन्द आता है जितना नन्ददास के गोपियों के सम्वाद में।

यह बैलेन्स प्रायः अवसर देखकर ठीक कर लेता हूँ। जब माँ घर के बाहर दर्शन पूजन में लीन होने जाती है तब मैं सरकार साहब और शास्त्री जी की पूजा करता हूँ। इसलिए अभी तक मेरे सामने कोई समस्या नहीं थी। रस की गङ्गा भी अभी सूखी नहीं थी पर अब एक समस्या खड़ी हो गई है।

सम्भवतः सावित्री से नारीजाति की यह हँसी नहीं देखी जाती और ब्रह्मा के अनुनय विनय कर मेरे सामने उन्होंने एक बड़ी समस्या खड़ी कर दी क्योंकि उसने अब बैलेन्स बिगाड़ दिया है। विधाता को कोस नहीं सकता क्योंकि आज के युग में जो पत्नी की बात अनसुनी कर देते हैं उन्हें भवसागर तरने में क्षण क्षण बाद यहीं नर्क का अनुभव होता है। इसलिए विधाता क्षम्य है। उसे नाराज कभी नहीं करना चाहता क्योंकि सुना है कि हाथ की लकीरें बदलती रहती है। कहीं रुष्ट हो कर कोई भयंकर लकीर उसने खींच दी तो बड़ी आफत ढह जायगी। मौन होने का यह भी एक कारण है।

यह समस्या इतनी जटिल हो गयी है कि मध्यस्थता के भुंह पर आनन्द की सीमा पर पहली बार में ही चाटा लगा। सम्भवतः इसलिए कि बन्धन लग गया है। इस समस्या के उत्पन्न होने का कारण भी मैं हूँ, इसलिए स्वयं पर झल्ला भी नहीं सकता। नहीं तो दूसरे भी मुझसे रस पान कर लेंगे। मैं हूँ जन्मजात कंजूस, रस ऐसी चीज को मैं उड़ेल नहीं सकता क्योंकि उसका मूल्य अभी तक देने वाला संसार में कोई तो न उत्पन्न हुआ है और न किसी के उत्पन्न होने सम्भावना है क्योंकि वह नश्वर जीवन में अमृत की अनन्त घूंट है।

पर्यटक हूँ। वह भी इस कारण कि जब इस शंकर की नगरी में रहते-रहते एक रस हो जाता हूँ, तो बरबस दूसरे रस की कामना जाग जाती है। क्योंकि अर्थशास्त्र भी मैंने पढ़ा है। उसमें भी बताया गया है कि जीवन की सबसे बड़ी समस्या उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति है, जो क्षण-क्षण परिवर्तित होकर भी असीम है।

इसी पर्यटन में मेरा बैलेन्स बिगड़ा। मैंने आज तक जीवन में किसी को बहन नहीं कहा था। पहली बार बहन का उच्चारण मुख ने किया। इस शब्द की मैंने जो उपेक्षा दिखायी उसी का अब बदला मिला। आज के युग में शब्दों का बदल चाटों से लेने की प्रथा चल पड़ी है।

यदि यह चाटा हाथों का लगता तो सम्भवतः अँगुलियों के दाग तुरन्त मिट गये होते पर वाणी का चाटा हृदय पर अपनी छाप छोड़ जाता है उसी प्रकार जैसे कोई योग्य कुलपति अपने गुरुकुल पर।

किसी ने कहा—सुधाकर भाई। अगर तुम मुझे बहन न कहकर मेरा नाम लेकर पुकारते तो अधिक अच्छा होता।

मैं उसी प्रकार सन्न था जिस प्रकार युद्ध में हारा कोई बन्दी सैनिक। पर कानों पर आवाज आती रही 'आज के युग के कोश में

बहन का कुछ दूसरा अर्थ सभ्य समाज में माना जाता है। मैं तुम्हें अपना भाई ही समझती हूं। यदि बड़ी होने के कारण मेरा नाम नहीं लेना चाहते तो.....कह कर पुकारा करो।' मुझे प्रसन्नता होगी।.....का अर्थ केवल मैं जानता हूं और उसे आज के सभ्य समाज पर प्रकट कर पुनः उस परम्परा को नष्ट नहीं करना चाहता जो कभी की नष्ट की जा चुकी है। जिस बहन शब्दकी लाज पर कितनों ने अपना खून पानी के मोल बेच दिया और जिसकी गुणगाथा गा कितने चारण अमर साहित्यकार बन गये, उसका आज जो अर्थ है, कम से कम इस शब्द का, अर्थ प्रकट कर उसे अपने जीवन पर्यन्त उतना सस्ता नहीं बनना चाहता। बड़ी साधना से यह शब्द मिला है, न।

मेरे एक मित्र थे जिनकी कभी कोई बहन थीं। अभी अभी वे मिले थे। अब दोनों एक दूसरे के जीवन-सङ्गी हैं और एक दूसरे का परिचय अब पति-पत्नी के रूप में सहर्ष देते हैं। यह देखकर मस्तिष्क का तो बैलेन्स बिगड़ ही गया था।

अभी-अभी...मिली थीं। वे वे ही हैं। मुझे खेद है कि उन्होंने मेरा बैलेन्स बिगाड़ दिया क्योंकि व्यंग करने पर भी वह वही रहती हैं और सहानभूति दिखाने में भी वह वहीं हैं। अब मेरी मध्यस्थता समाप्त हो गयी और सदा के लिये बैलेन्स बिगड़ गया है। पर चाटे याद हैं इसलिये उसे बना भी नहीं पाता।

—:o:—

कुंकुम

नारी के मस्तक पर लगी बिंदिया जब पुरुष के मस्तक पर शोभायमान होती है तो सौभाग्यश्री विजयश्री का प्रतीक बन जाती है। एक के भीतर नारी जीवन की सारी निधि स्मिति के कलंक-हीन पूनो की चाँदनी बन जाती है और दूसरे में जीवन-पथ पर पथिक के विजयोल्लास की सुकुमार कामना अँगड़ाई लेती है।

अचेतन मन ने जीवन की विजय-यात्रा के लिए प्रस्थान दुन्दुभी कब बजायी, ज्ञात नहीं। कितनी बार रास्ते में मस्तक पर काजल का डिठौना लगा और कितनी बार रोली और अक्षत से उसकी पूजा हुई, सभी पथ की प्रेरणा की धारा में बह गये।

घाट के घाटियों के छरों से लेकर इस मस्तक ने माँ और बहनों द्वारा प्रदत्त आलोक बिन्दु तक का स्वागत किया है जाने, अनजाने और आज जब दुनियाँ के लोग उल्लास की गङ्गा को कुंकुम, रोली, अबीर से रङ्गीन बनाना चाहते हैं, मैं घाट पर बैठा सोच रहा हूँ।

चिन्तन के इन क्षणों में स्मृति-पट पर अतीत के चलचित्र नर्तन कर उठते हैं जिन्हें देखकर अधर ज्योंही स्मिति के मोती बटोरने चलते हैं त्योंही मेरे आँखों के मोती बिखर पड़ते हैं और मैं सिहर उठता हूँ।

याद है, अच्छी तरह याद है जब पण्डित गोविन्द राम पाण्डेय (जो अपने समय के संस्कृत के भारत विश्रुत विद्वान तथा काशिराज दरबार के प्रधान पण्डित थे) के घर की परम्परा एक

लाड़-प्यार से पला मस्त मालक अनजाने ही तोड़ने चला था। सम्भवतः उसे उस समय यह भी नहीं मालूम था कि परम्परा का अर्थ क्या है? उस घर में अंग्रेजी की पढ़ाई आरम्भ हुई और उसका श्री गणेश कर्त्ता मैं बना।

उस बिन एडमीशन की परीक्षा थी। उतनी ही तैयारी जितनी फिर दुबारा शादी के समय ही सम्भव हो सकी, पर वह उल्लास न आ सका।

तब तक मैंने यह भी नहीं सीखा था कि बड़ों के सामने मस्तक झुकाने से आत्म-सम्मान ऊँचा उठता है। मस्ती में चला कि मेरी अग्रजा ने कहा—सुनों, पाँव रुक गये। उसके हाथों में चाँदी की तस्तरी थी तथा रोली और अक्षत-माला। माला पहनाकर रोली और अक्षत उसने मेरे मस्तक पर लगा दिया। बिना किसी के बताए या कुछ कहे ही मेरा मस्तक उसके चरणों पर झुक गया और मैं सिहर उठा। उसने कहा—माँ और भाभी का चरण भी छू लो।

बड़ों के आदेश पालन में सुधा की प्राप्ति होती है क्योंकि जितनी बार भी मैंने ऐसा किया उतनी बार कुछ न कुछ प्राप्त ही होता गया। उन दिनों पैसे का मूल्य मेरे लिए अधिक था क्योंकि मस्ती का खुराक, आदेश पालन के द्वारा दूनी मात्रा में पैसे के रूप में मिल जाता था और सरकार साहब मुझे बहुत पैसा दिया करती थीं, चोरी से बाबूजी के।

पाँव उलटे मुड़े। भीतर गया। माँ के पास पहुँचा, पर चरण छूने का साहस न हुआ, लज्जा जो आ गयी। पर बाहर निकला, भाभी खड़ी थी, चरण छू भागा। पर भूल न सका जो भागते समय आशीर्वाद मिला 'भगवान करें बबुआ जी फस्ट पास हों।' उस समय तो लज्जा का आवेष्ठन था। अब जब बड़ा हो गया हूँ लज्जा का घूंघट उठाकर मन मुझसे पूछता है, क्यों? वह आशीर्वाद क्यों?

मेरे राह के निर्माता यदि विजय-प्रयान पर अक्षत और रोली न लगावें तो विधि का विधान ही परिवर्तित हो जायगा और उस विधान के टूटने से प्रलय आ धमकता है, ऐसा पढ़ चुका हूँ। इसलिए प्रलय नहीं सर्जन से ममता हो गयी और ऐसा आभास होता है कि सरकार साहब की छाया सदैव पथ पर अक्षत और रोली लिए खड़ी रहती है।

जिनसे अभी तक मैंने लेना सीखा है—और सम्भवतः जिन्होंने जीवन पर्यन्त मुझे नित्य दान देने का व्रत ले रखा है, वे भला मुझसे क्या पायेंगे और प्रतिदान भी दूं तो क्या दूं ? बड़ों को छोटी वस्तुएँ देना उनका अपमान ही तो करना है। इस उधेड़ बुन में ममता की छाया मुसकुरा उठी। एक गाय सामने से जा रही थी अपने सींगों से बछड़े के लिए भीड़ में रास्ता बनाते हुए। सोचने लगा, कितने बछड़े के लिए यह रास्ता बना चुकी होगी, सभी जवान होकर अनजाने बन गये होंगे पर इसकी ममता की बेड़ियाँ न कट सकीं क्योंकि इसने तो रास्ता बनाना ही सीखा है।

इन्हीं लोगों में से एक हैं, मुझसे बड़ी, वात्सल्य की प्रतिमूर्ति, पावनता की छाया और मुझे दुलारने वाली माँ और बहन का संयुक्ताक्षर, कमला। मैं उनके प्रति श्रद्धालु हूँ। पर आत्माभिमान ने उन्हें भी रुठा दिया। बड़ों की आयु का अनुभव भी मुझ जैसे लड़कों से अधिक तो है ही। वे पता नहीं कैसे अपने को छिपा लेते हैं।

जब कोई रूठ जाता है तो उसे मना भी नहीं पाता क्योंकि आत्माभिमान के नाम से अहंकार ने भी डेरा डाल रखा है, मेरे घर में।

मेरा अपमान हुआ, उसे मालूम था। पर उसके भीतर कोई परिवर्तन नहीं, हाँ जानकर भी अनजान बन वह मेरे मौन रहने का कारण पूछती, मैं टाल जाता क्योंकि उसके सामने साहस न था कि स्पष्ट कह दूँ, क्या बात है ? जब कोई वस्तु मन में दब जाती है तो वह ज्वालामुखी बनकर फूटती है, यह मुझे मालूम न था।

यदि भूलता नहीं हूँ तो उसने मुझे बुलाया, पूजा का प्रसाद दिया और रोली और अक्षत लगाया। अपनी भूल पर आँसू आँखों में उमड़ आये, बरसा होने वाली ही थी कि आत्मसम्मान की अंधड़ आ धमकी और बादल से भरा मेरा शून्य वहाँ से बहाना बनाकर टसक गया।

परिस्थितियाँ जीवन को उलझाती जा रही हैं, अवशेष जीवन के लिए पीड़ा का कारण बनती जा रहीं हैं। इस रोली ने काफी रुलाया पर वाणी महान मौन हो आत्मघात करने पर तैयारी हो गयी।

एक दिन की बात है। घर आया, माँ ने कहा कमला के यहाँ से सन्तरा और कुंकुम आया है। सन्तरा तो लोगों में वितरित कर दिया किन्तु कुंकुम अब भी मेरे किताबों की आलमारी में पड़ा है।

यदि किसी अपने के लिए मैं उलझन का ताना बनूँ तो इससे बढ़ कर मेरे लिए और क्या नीचता हो सकती है। पर इतना साहस नहीं कि उनकी भी हत्या करूँ जो मेरे हैं। पर मेरा दोहरा व्यक्तित्व उन्हें ऐसा समझने के लिए बाध्य कर देता है।

संसार की दर्शनीय वस्तुओं में सात चीजों की गणना होती है। परीक्षा में वही सात वस्तुएँ ताजमहल से चीन की दीवार तक लिखता आया हूं। पर इसमें उसी प्रकार विश्वास नहीं है जैसे आज पंचशील में युद्ध पर। पर परीक्षा जो पास करनी रहती थी इस-लिए अपने मन की बात बतानी पड़ती थी। यदि अब मुझसे पूछा जाय तो मेरा उत्तर यही होगा कि संसार की सर्वाधिक विचित्र वस्तु मानव है, विधि-शिल्पी की सर्वाधिक कलात्मक सजीव कृति।

बचपन में जिनकी छाया में लोट पोट कर यौवन पाया; उस यौवन की निरंकुशता की तुलना केवल कैकेयी के कलंकित प्रस्ताव से की जा सकती है। यौवन प्रसाद पाते ही व्यक्ति भस्मासुर बन जाता है। उसकी ममता अपनी सहचरी ढूँढ़ने लगती है। पर अभिभावकों

ने तो उत्पादन की ऐसी कम्पनियाँ खोली हैं जो केवल अपने उत्पादन की अच्छाई से नाता रखती हैं; मूल्य कोई अनजाना पाता है। उन्हें तो 'गुड बिल' चाहिए, क्योंकि जहाँ भी उनका उत्पादन रहेगा, नाम तो उन्हीं का रहेगा।

एकाएक एक अभाव मन से आँख मिचौनी करने लगा। पूनों के चाँद से लेकर कतल की रात तक सपना बनकर आँखों में घम गया पर एक लाल लकीर रस गयी मन में जिसकी लाली आज भी मस्तिष्क के कोहरे में ऊषा बनकर चमक उठती है। जब किसी के कपोलों पर गुलाल मलने की बेला आयी मैं पीला पड़ गया सारे बदन में हलदी मल दी गयी थी और हाथ में लगा गुलाल केशर से रँग गया और मैं किसी के माँग का सिन्दूर बन गया।

याद है, वह रात जिसमें ऐसी शहनाई सुनी थी जो आज तक बजी ही नहीं, ऐसा मन-मेध हुआ था जो कोई चक्रवर्ती सम्राट भी न कर पाया, देवी की वाणी में अग्नि को साक्षी देकर मैं प्रतिज्ञा कर रहा था अपने को स्वाहा बोलकर.....जीवन पर्यन्त परवेष्ठन में ढकी इस अनजानी वस्तु को—अपना जीवन संगिनी मानूँगा। फेरा भी लगा डाला, पर मष्तिष्क तो पागल होकर दूसरा कुछ ही देख रहा था। बोल रही थी, आस्था की वाणी भय के अंकुश से लोक-लाज का घूँघट डाले।

हाथ का रंग धुल चुका था अब मेरे हाथों में सिन्दूर था। पहली बार किसी नारी के मस्तक का जिसका तन, मन अब मेरा है, मैंने स्पर्श किया और हाथों के सिन्दूर ने यद्यपि किसी की माँग भरी, तो भी मैं स्वयं उस सिंदूर का प्रतीक बन बैठा। प्रतिज्ञा कर अवज्ञा करने की सामर्थ्य न रही पर जब कहीं कभी किसी की माँग में सिन्दूर देखता हूँ तो सिहर उठता हूं। उस सिहरन में किसी की सान्त्वना और मेरी तड़प छिपी रहती है।

द्वन्द्व की अभिव्यक्ति मानव की सबसे बड़ी विशेषता है। तन एक है पर मेरा मन और आँखें दो हैं। वह द्वैत व्यक्तित्व मुझे उतना ही प्रिय है जितना शंकर के उपासक को अर्द्धनारीश्वर तथा ताण्डव नृत्य की मुद्रा। मेरे साथ रहने वाले भी यह नहीं पहचान पाते, इसका मुझे कभी-कभी मार्मिक दुख होता है। यह जानते हुए कि यह दुख भी आवश्यक है क्योंकि अन्तर की भाषा बहुत थोड़े ही लोग समझ पाते हैं।

ममता के बन्धन में बँधकर घर के लोग तो मेरी बुराइयों को भी दुलारने के अभ्यासी हो गये हैं क्योंकि बड़ा लाड़ला बेटा जो ठहरा। पर सौभाग्य है कि बाहर के कुछ भीषण लोग भी मेरे लिए ममता का आँसू छिपाये रहते हैं। इन लोगों का इतना अधिक ध्यान मन रखता है कि कहीं ये लोग यह न समझ बैठें कि मैं उनका नहीं। क्योंकि उनके विश्वास पर धक्का लगेगा जो गो हत्या से भी बड़ा पाप है, मैं अपनी हत्या तो कर सकता हूँ।

जिस रोली और कुंकुम के कारण उल्लास की विजयश्री मेरे आँखों में मड़रायी, जिसके कारण कतल की रात देखी और सिन्दूर-मय बन गया; जिसके कारण आँसू भी बहाना पड़ा उससे ममता न हो यह भी एक प्रवञ्चना होती। पर सभी आज मुझ पर हँसते हैं इसलिए ममता का बन्धन मन में रखकर भी बाहर से आज दुनियाँ जब होली मना रही है मैं स्मृति के बिखरे कुंकुम देख रहा हूँ।

मैं अपने मित्रों के साथ इस बार होली के पहले ही होली खेल चुका हूँ, सादी; क्योंकि गमी मना रहा हूँ।

कमला को भी बुलाया है, आने पर श्रद्धा से कुंकुम चढ़ाने के लिए, क्योंकि भविष्य में उससे जीवन भरके लिए बिदा होना है इसलिए कि मैं कहीं और भी उसके कष्ट का कारण न बनूँ पर उससे स्पष्ट न कह सकूँगा, यह भी द्विविधा ही है, मेरी कमजोरी।

पर होली के दिन सब रङ्गीनी मनायेंगे ही। तब मैं एकाकी अपनी रङ्गीन सुधियों से खेलूंगा। जरूर खेलूंगा। आँखों का पानी स्मृतियों का रङ्ग और मन की पिचकारी मेरे पास जो है और आलमारी में वह पवित्र कुंकुम भी है, जिसे फेंक न सकूंगा।

—:o:—

क्या हूं

* * * * * * * * * * * * * * * * * * [१६]

मानता हूँ और जानता हूँ कि आदान-प्रदान से भरी इस दुनियाँ में लेना तो सभी जानते हैं, पर देना कोई नहीं; मैं भी नहीं। जिस दिन से व्यक्ति धरती पर चरण धरता है और जब तक चिता पर धर नहीं दिया जाता तब तक वह आते ही दूध चाहता है और जाते समय अपने सम्मान में चिता का शृङ्गार।

चिरन्तन पाने के लिए कभी-कभी सूमड़े को भी दानी का स्वांग रचना पड़ता है और आज मुझे भी दानी का स्वांग रचना है। अभी तक तो ध्वंस के अवशेष पर बैठकर मन की बंशी बजाता था। अब दाता बनने का स्वांग रचना मेरे लिए उतना ही दुरूह लग रहा है, जितना महाराजा रणजीत सिंह को कोहनूर देना लगा था। पर देना ही है अब उस पाने वाले को जो आज तक केवल लेता ही रहा है।

आया तो था खाली हाथ पर आज दाता बनने जा रहा हूँ। अतीत के पृष्ठों पर आँखें गड़ाता हूँ, माँ ने जीवन दिया, पिता ने आँखों में ज्योति और समाज ने दिया चलने का सम्बल। यह वह संसार है जहाँ गूँगा वाणी पाता है, पंगु पथपर चरणों में भ्रमण करने की क्षमता और मन पाता है अनुभूति। मैं भी इसका अपवाद नहीं हूँ।

आज तक जिसे सब देते आये हैं उस बालक से ही आज सब पाने की कामना लगाये बैठे हैं। आज तक सोचता था कि बन्दा इतना बड़ा चक्रवर्ती राजाट है, जितना बड़ा भूत में न तो कोई हुआ और भविष्य में न तो कोई होगा। पर बीमा की सभी किश्तें भरपायी हो चुकी हैं, अब मियाद आ चुकी है भुगतान करने की। वेद, कुरान, पुराण सभी तो कहते हैं लेकर न देना सबसे बड़ा पाप है। मन ने भी अपने को पापी न घोषित करने का निश्चय कर लिया है। लाचारी भी तो है, कृष्ण भगवान जैसे व्यक्ति को भी मनको परम दुराग्रही मानना पड़ा, फिर मेरी क्या बिसात जो मन से भी मोर्चा लूँ। अगर अभ्यास भी करूँ तो अपने को दिवालिया घोषित कर नेकनामी पर कलङ्क का टीका लगवाने की सामर्थ्य अभी नहीं आयी; आये भी तो क्यों? सम्राट भिखारी बन कर भी सम्राट ही रहता है। सम्राट जो मैं ठहरा।

युग बदल गया है। सम्राटों के मुकुट अब धूल को पाउडर समझने के अभ्यासी हो गये हैं। पर सोना सोना ही है; रत्न रत्न ही; मैं भले ही धूल में मिल जाऊँ पर जीते जी जिस दिन मेरे भावों का मुकुट धूल धूसरित होता दीख पड़ेगा उस दिन ही समझ लूँगा कि मैं मर गया। मैं का यन्त्र भर चालित है।

आज मेरे सामने यह प्रश्न भारतीय विधवा के यौवन की भांति विचारणीय हो गया है कि दूँ भी तो क्या दूँ? अभी तक तो एक हाथ से लेकर दूसरे से उसे बिना दाता की जय बोले ही फूँकता चला आया हूँ। कन्जूसियत की तिजोरी से उतनी ही घृणा मुझे हो गयी थी, जितनी आग को पानी से और चाँद को सूर्य से है क्योंकि दाताओं की कमी कभी नहीं पड़ी। पर दाता बनने के लिए मधुकरी भी उसी प्रकार छोड़ देनी पड़ती है जिस प्रकार पास होने पर कालेज का रस-सिक्त वातावरण।

आज मैं अपना कोना-कोना उसी प्रकार ढूँढ़ रहा हूं, जिस प्रकार बिगड़ा हुआ भद्र रईस अपने सम्मान के रक्षार्थ घर में बिखरी हुई वस्तुएँ। पर यहाँ तो आकाश से मन तक शून्य ही दीख पड़ता है फिर भी देना है, क्योंकि जिनसे पाया है उनकी आशा पर प्रतिक्षा का मोर्चा लग गया है। मेरे कारण ऐसा हो मेरे लिए लज्जा की बात है।

मैं आज अपनी बेबसी की बंशी का रव भी मुखरित नहीं कर सकता क्योंकि लोग समझेंगे कि मैं भी संसार का एक सामान्य मनुष्य हूँ, अवसर आया, आग से पानी हो गया। पर इस बेबसी की फरियाद मेरे मस्तक पर व्याप्त रेखाएँ मेरे लाख रोकने पर व्यक्त कर ही देती हैं। इन रेखाओं को पढ़ तो वही सकते हैं जिन्होंने मेरे बीजारोपण से मस्तक की रेखाओं को परिमलान्ध होने तक बराबर देखा है। वे मेरे हैं, उनसे सदैव लेता आया हूँ, वे बड़े हैं, पूज्य हैं, श्रद्धेय हैं। मेरी प्रतिष्ठा की सुन्दरी के लिए वह झूठ बोलकर घूँघट का कार्य कर सकते हैं और किया है अनजाने। वे तो कह देंगे ही बहुत कुछ मिला है; मिलेगा। माँ, बाबूजी, बहनें और गुरुजनों को कुछ देने की न तो सामर्थ्य है न उनसे कुछ कहना ही है। वे जानते हैं, मेरी लाचारी।

पर कुछ और भी अपने हैं जिनमें अनेक ऐसे हैं जिन्हें अगर माँग जाँच कर कुछ दूँ भी तो वे इसे अपना अपमान ही मानेंगे इसलिए उन्हें देता नहीं क्योंकि अपनी वर्षगाँठ पर एक बार एक पुस्तक एक को उपहार में दी थी; वह पुस्तक उस समय तो नहीं, कई महीने बाद बहाना बनाकर वापस कर दी गयी, इसलिए कि मैं भिखारी हूँ, भिखारी को श्रद्धा और आस्था व्यक्त करने का भी अधिकार उनकी दृष्टि में नहीं। तब से साहस की उमंग को ऐसा चाँटा लगा कि बड़ों को देने की बात भी उतनी डरावनी लगती है जितनी किसी भले आदमी को जेल जाने की बात।

यह तो आपसी लोग हुए, बुरा भी मान जायेंगे तो मना लूँगा। पर समाज के लोगों ने, पथ की ठोकरों ने और गोले संसार के गोल निवासियों ने मुझे जो प्रेरणा और बल दिया है, उसके प्रतिदान के लिए आज वे मुगल बन बैठे हैं। पथ के काँटें भी अब सुर्मा-शलाख और ठोकर देवता बनना चाहते हैं। मुझे आपत्ति नहीं, उनका महत्व इनसे अधिक है, रहा है, रहेगा। पर ये पूजा चाहते हैं। बन्दा तैयार है, पर मेरे पास...?

वादे का सौदा इन्हें पसन्द नहीं, मेरे पास तन है, मन है और है जीवन। हृदय दान कर चुका हूँ। तन कोई लेने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि इसकी दुर्गन्धि से सभी का मन दम तोड़ने लगता है। मन किसी को चाहिए नहीं क्योंकि वह ऐसी धातु का बना है जो किसी भी क्षण विस्फोट कर सकता है। इसलिए विस्फोटक पदार्थ से आज अपने घर को अनजाने जलवाने वाले के लिए कोई तैयार नहीं।

तो सबसे बड़ी वस्तु आज देने जा रहा हूँ अपना जीवन...। सब कुछ मेरा यही है, यदि इससे भी सन्तोष नहीं है तो संसार तुम्हें क्या दूँ...? अपने से जो चाहो, जिसपर मेरा अधिकार हो एक हृदय छोड़कर ले लो और दूँ भी तो क्या दूँ? कुछ दीखता भी तो नहीं।

—:o:—

जाग्रो कल्पित साथी मन कूं

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * [१७]

आने जाने का क्रम इस सृष्टि के आरम्भ से ही प्रारम्भ हुआ और सम्भवतः जब तक धरा पर जीव जड़ नहीं हो जायेगा यह क्रम चलचित्र की भांति चलता रहेगा। मानव आता है एकाकी और एकाकी ही जाने की प्रथा भी इस संसार में है।

देख तो न पाया और न स्मरण की धार ही इतनी तेज है जिससे पिछले जीवन की स्मृति रेखा बटोर सकूँ पर सुनता और पढ़ता आया हूँ कि किसी ज्योति पिण्ड का एक स्फुलिंग हूँ। उससे अलग होना जीवन है। उससे मिलना मुक्ति। सम्भवतः यदि स्त्री-लिंग होने से मुक्ति ('नारी तुम केवल श्रद्धा हो' के सिद्धान्त के अनुसार) जीवन के ध्येय का सूक्ष्मतम केन्द्र-बिन्दु बन गयी हो तो उसपर मेरा विश्वास नहीं, क्योंकि स्वर्ग के साथ यदि नरक भी पृथ्वी पर कहीं है तो वह नारी के ही अन्दर, भला युग चेतक कवि पन्त जी की जीवित आलोकानुभूति से कैसे अलग रह सकता हूँ—श्रद्धा को मानकर। इसलिये अभी तक मुक्ति को बुद्धि—शैशव के लिये परी की कहानी ही मानता हूँ। सम्भव है मुझे भी पङ्ख जम जायँ, परियों के देश में जा सकूं तो सम्भवतः मुक्ति को जीवन की रानी मान बैठूं। पर देखा है जब थलचर को पङ्ख जम जाते हैं तो काल के अधर जीवन के रक्त से लिपस्टिक लगाने लगते हैं। भला नश्वर

मानव काल के अधरों से कब प्यार करेगा ? इसलिये मृत्यु और मुक्ति से खुदा बचाये।

लोग रोते हुए एकाकी आते हैं, दुनियाँ हँसती है। बधाई और भाग्य की शहनाई बजती है। अकेला चलने वाला पथिक मा की ममता की छाया में शीतलता पाता है। माँ से घर और घर से समाज उसका स्वागत करता है। निन्दा की बाँसुरी से उसकी कीर्त्ति प्रसारित की जाती है। भला, उनके प्रति कृतज्ञ न होना कैसे सम्भव हो सकता है।

संसार में मैंने भी पैर रखा। माँ के दूध ने जिलाया, बाबूजी ने पढ़ाया, लिखाया और जवान बनाया। माँ और बाबूजी के भीतर केवल एक कामना होती है, जागती है और सपना बनकर नाचती है—'मेरा पुत्र महान् हो'। मेरी महानता की गाथा उन्हें उतनी ही प्रिय लगती है जितनी तुलसीदास को राम-कथा। मैं ही तो अकेला पुत्र नहीं हूँ। दुनिया है, दुनियाँ में लोग रहते हैं और लोगों को भी बाल-बच्चे होते हैं। जिस क्षण में पैदा हुआ था उस क्षण न केवल मेरे घर पर हर्ष की शहनाई बजी थी अपितु अनेक गृह प्रकाश के किरणों की तार पर भैरवी गा रहे होंगे।

दिन सबका बारह ही घण्टों का होता है और सूर्य तो एकाकी ठहरा। सारी सृष्टि को एक ही आँख से देखता है। मेरे साथ आने वाले भी विकसित हुए।

एकाएक बचपन की आँखें मुंद गयीं। मद-भरी जवानी के तराने कान में स्वर्गीय रागिनी भरने लगे। मन मस्त मयूर की भाँति नाच उठा। यौवन में सभी सपने देखते हैं। मेरी आँखों ने भी देखा। माँ की ममता का बन्धन ढीला हुआ। कल्पना को पङ्ख जम गये। उड़ान भरने लगीं, आँखें और मन दोनों। चेतना अँगड़ाई लेने लगी।

आँखों की भूख भाषा स्वप्न बन गई। दूरागत वंशी का रव समीपवर्त्ती हो गया। पार्श्व में दिन भर संगीत चलता। रात में

स्वप्नों की फुलवारी में इंद्र-पूजन महोत्सव मनाया जाता। मैं इन्द्र था अपने मधुमय स्वर्ग का। पर इन्द्रत्व किसी के बाप की बपौती नहीं, और भी तो इन्द्रीवर से अपने को सजाना चाहते हैं। भावुकता हार का शृंगार लेकर आयी। स्वप्न भङ्ग हुआ। यौवन की रानी ने पलकें मूँद लीं, प्रतिस्पर्द्धा के बाजार में। आग लग गयी—सोते, जागते, उठते, बैठते और उसकी धूम्र रेखाओं से हृदय पट पर एक चित्र बन गया जो मिटाये से भी न मिट सका। अमर हो गया, नश्वर मानव का अन्तरतल।

आदमी ज्यों-ज्यों विकसित होता जाता है त्यों-त्यों शान्ति का व्यवहार उसके प्रति परकीया प्रेमिका की भाँति होता जाता है। होना स्वाभाविक भी है क्योंकि व्यक्ति भी तो वासना के चरणों में कामना के नूपुर बाँध लेता है। कामना की छम्-छम् में वह खो जाता है। पर यौवन में शैशव का होम चढ़ाकर भावुकता की मधुशाला से जब व्यक्ति खाली हाथ लौटता है तो उसका स्वप्न भंग हो जाता है किन्तु एक चित्र उसके पास बच जाता है शंकर की विभूति की तरह ऐश्वर्यवान्। वह चित्र उसकी सम्पत्ति होता है जो अतीत का भार अपने सबल कन्धों पर उठाये फिरता है। करुणा के मोती उसमें होते हैं और आँखों का पानी। मन उसे देखते-देखते पथरा जाता है। मैं भी उस चित्र को देखते-देखते पथरा गया था।

एक बार आग में जल चुका हूँ। हृदय पर किसी का सिक्का दागा जा चुका है। दागने वाले सिक्के का तो पता नहीं पर दाग शेष था; है और जीवन के साथ रहेगा।

थका और हारा मानव सहानुभूति और सहारा चाहता है। मुझे भी सहानुभूति चाहिये थी। जीवन संग्राम में छिद्र-छिद्र घायल हो चुका था। आग से खेल नहीं सकता था, मुझे पानी चाहिये था, जो पावन-सरिता का न होकर गंगा की पावन धारा का हो।

संघर्ष से मन ने हार नहीं मानी थी और न कभी मानने वाला ही है। जीवन संघर्ष में तल्लीन था। अमृत की तरह सुघर वाणी कानों में पड़ी।

'सैनिक! मेरे वेश में आओ। मैं तुम्हारे घावों पर संघर्ष की पट्टी बाधूंगी। अपने आँचल से तुम्हारी आँखों के मोती बटोरूँगी। तुम्हें शान्ति दूंगी। पवित्रता की वाणी पर स्निग्धता की रागिनी गाऊँगी। स्नेह का विजय-हार जिसमें आशीष का सौरभ रहेगा तुम्हें नित्य प्रति पिन्हाऊँगी। तुम्हारे हर्ष के लिये मैं जयश्री बनूंगी। आओ, चले आओ!'

अग्रगामी चरण अनुचर बनें। कामना की उर्वशी की नाक कट गयी। शान्ति के पावनतम प्रदेश का मैं शासक बना। अमृत की प्राप्ति हुई। देवों ने मेरे भाग्य को सराहा। फूलों की वर्षा हुई। मन के अङ्गार सो गये। वह अग्रजा का साम्राज्य था।

ईर्ष्या की आँधी आयी। स्वार्थ के बादल घिरे। प्रलय की बूंदें बरसीं। मैंने हार मान ली पावनता की सजीव प्रतिमा अन्तर्ध्यान हो गयी। पुनः यायावर सा एकाकी। पर कामना आज मेनका की भाँति नर्तन कर रही है। मेरी आँखें बन्द हैं पर आशा और कल्पना का सामूहिक नर्तन और गायन चल रहा है।

सोचता हूँ एकाकी था। माँ का आँचल उठा, जीवन संगिनी का साथ छूटा और अग्रजा का आशीष कवच भङ्ग हुआ पर अब भी मन में मेरे वे तीनों चित्र बारी-बारी से आते हैं। उन्हें देखकर मुझे उतना ही आनन्द मिलता है जितना प्यासे को पानी मिलने पर, भूखे को भोजन मिलने पर, नंगे को वस्त्र मिलने पर। पर कामना और कल्पना अब भी चैन नहीं लेने दे रही हैं। उन्हें ईर्ष्या जो ठहरी मुझसे। पानी, भोजन, वस्त्र तीनों जब मुझे मिल जाते हैं तो समझ नहीं पाता आशा अब किसको मेरे घर पर निमंत्रण देने जा रही है

और उसे अधिकार ही क्या है किसी के खण्डहर में बिना उसके चाहे दीपक जलाने का।

इसी उधेड़बुन में भविष्य का ताना-बाना बुन रहा हूँ। मन ऊब चुका है। किसी की आवाज सुनायी पड़ी। सामने मकान में रेडियो पर कोई गा रहा है :—

जाओ कल्पित साथी मन के।

आशा और कामना को भी वह गीत सुना रहा हूँ। पर...क्या वे दया करेंगी। वे तो बिना बुलाये आयी हैं न; भला मेरे कहने से क्यों जाने लगीं?

—:o:—

अब लौं नसानी....

* * * * * * * * * * * * * * * * * * * [१८]

नियति की कारा में बन्दी मानव के सम्मुख 'कब' की दीवाल अब होकर पुनः 'कब' हो जाया करती है। पर्वत की ऊँचाई से दूरागत हरित भूमि के बीच सिकता रजत-कण बन सकता है, दूरागत वंशी की ध्वनि सुहावनी लग सकती है, पर उस रजत मोहिनी धूल-राशि से सूर्य की किरणों पर चढ़कर पूछिये, वंशी-वादक के अन्तस्तल को मर्म की वाणी से गुदगुदाइये तो उनके जीवन का प्रश्न चिन्ह बरबस द्रष्टा को क्षण भर रुकने के लिये बाध्य कर देता है और 'घर-घर वही लेखा' वाली बात की पुष्टि में प्रमाण बन जाता है।

मेरे सामने भी 'अब' का प्रश्न अनेक बार आया। कई बार 'फिर कभी नहीं' बन कर भी आया, फिर भी मैं उसे उसी प्रकार टालता गया जिस प्रकार एक व्यसनी व्यसन छोड़ने की बात। देखने में तो मेरे भीतर भी लोगों को हरियाली दिखायी पड़ती है, सावन के बादलों की भाँति सरस लोग मेरा जीवन समझते हैं पर पास से उसे कोई भी न देख सका। देखते भी तो कैसे आग में झुलस जो जाते। जीवन में व्याप्त लपटों को मैं हँसी की भट्ठी में बन्द कर लेता हूँ और रोऊँ भी तो किसके आगे? अपनी हँसी उड़वाऊँ, रहीम जो कह गये हैं....

'रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुनि अठिलइहैं लोग सब बाँट न लैहैं कोय॥'

लोगों को सुनाकर ऐसी परिस्थिति में जब 'ज्ञान-विराग' के करारें डूब चुके हों अपनी हँसी उड़वाऊँ, यह कैसे सम्भव हो सकता है और वह भी मेरे जैसे व्यक्ति द्वारा जिसका भेद केवल मन गात्र जान सका।

सुनता आया हूँ—जीवन रहस्य है, पर जानता हूँ रहस्यवादी कम से कम जब वह प्रचार के बाजार में नहीं रहता तो अपने रहस्यवाद का मूल्य तो जानता ही है। जीवन के इस रहस्य-उद्घाटन में कबीर को अड़बंगी बनना पड़ा, मीरा को लोकलाज—भारतीय नारी का शृंगार—खोना पड़ा, सूर को अन्धा बनना पड़ा और तुलसी को अपनी जीवन-ज्योति-रत्ना को तिलाञ्जलि देना पड़ा पर जीवन का रहस्य उतना बड़ा बना ही रहा जितना वाल्मीकि के समय में था।

इन रहस्यों का उद्घाटन मानव सम्भवतः इसलिये नहीं कर पाता कि यदि लोग, लोगों के भेद जान जायँ तो भाड़ में एक दूसरे को ढकेल दें। यह ईर्ष्या की प्रवृत्ति फ्रायड के अनुसार तो जन्मजात है। पर यह वह देश है जहाँ फ्रायड की कामना के पंख उड़ ही नहीं सकते। यहाँ तो उसे मानव की निर्बलता का प्रतीक माना जाता है। जिनके सिर पर नियति का वज्रदन्ती प्रहार अजाने नश्वर जीवन की सार्थक विपन्नता का उद्बोध कराया करता है वे भला अपनी आत्मवित के उद्भावक को भट्ठी में भुने—यह कैसे सम्भव हो सकता है। मैं भी भोग चुका हूँ। इसलिये इस सम्बन्ध में कालिदास की भाँति मौन रहने में ही कल्याण है।

आज भी चिन्ताग्रस्त क्षत-विक्षत मन लिये इसीलिये कालेज आया हूँ। अब भी तो ब्रह्म है न। उसका साक्षात्कार इसी कालेज के भरोसे तो होता है। वही मुझे जीवन में ब्रह्म का साक्षात्कार कराता है और उसके बदले नश्वर जीवन का थोड़ा समय ही तो लेता है, फिर उसे क्या पड़ी है कि मेरी चिन्ता करे।

यह 'विश्व बन की व्याली', कितना मनन करा चुकी पर निवृत्ति न मिली। उसका कारण भी 'प्रसाद' के मनु की भाँति मैं ही हूँ। सच कहता हूँ आज अपने प्रति मेरे वही भाव हो रहे हैं जो 'आकाश दीप' की चम्पा के बुद्धगुप्त के प्रति हुये थे। काश! घृणा और प्रेम विधाता के कोष से निकाल पाता पर नश्वरता के चरण कैलाश पर ठिठुर जो जायँगे।

घण्टे पर घण्टे बज रहे हैं। समय के पृष्ठ उलटते जा रहे हैं पर शोक सागर में मैं इतना डूब चुका हूँ, क्या पढ़ा रहा हूँ—मुझे मालूम नहीं। इस डूबने और डुबाने का कारण मैं ही हूँ।

अतीत के पृष्ठ स्मृति की आँखों पर एक-एक करके आ रहे हैं और पूछ रहे हैं डूबने का सारा उपादान ही तो अभी तक जीवन भर जुटाते आये फिर उतराने की कल्पना कैसे तुम तक पंख मार सकी। पर रोटी का प्रश्न वाणी को मकरध्वज की भाँति बल देता जा रहा है और मैं पढ़ाता चला जा रहा हूँ।

एकाएक वाणी रुक गयी। केवल पुस्तक पर देखता रह गया 'अब लौं नसानी अब ना नसैहौं'। उसके आगे न पढ़ा सका। कर्त्तव्य की अवहेलना की, पर उस समय कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक ही नहीं रह गया था। तभी से गुनगुना रहा हूँ 'अब लौं नसानी' पर उसके बाद वाणी रुक जाती है 'अब ना' पर जाकर।

पर मन अगस्त ऋषि की भाँति विश्वास का तिनका मुँह में दबाये चरण बढ़ाता जा रहा है। देखूँ आगे के अक्षर जीवन में गुनगुना पाता हूं या नहीं। पर जहाँ भी रहूंगा, जिस देस में रहूंगा, जिस वेश में रहूंगा इतना तो गुनगुना ही लूंगा, 'अब ना नसैहौं' पर यह कृतघ्न मानव तुलसी को याद रख सकेगा या नहीं जिसने आगे के अक्षर शब्दों को साकार किया। पथ की प्रेरणा को इस ज्योति-स्तम्भ से आख मिचौनी शायद न खेल सकूं, मन का विश्वास जो है।